ओ३म्
आर्यमर्यादा
हिन्दी साप्ताहिक
विशेषांक
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मुख पत्र
१. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश
२. आर्योद्देश्य रत्नमाला
३. आर्यसमाज के नियम
टिप्पणियों सहित
चित्र पर ऋषि नाम उनके अपने हस्ताक्षर में है।
दयानन्दसरस्वती
वर्ष १
अङ्क १२
२७ माघ वि० २०२५ दयानन्दाब्द १४४
तदनुसार १६ फरवरी रविवार १९६९
वार्षिक शुल्क १०)
एक प्रति २० पैसे
सम्पादक—रघुवीरसिंह शास्त्री लोकसभा सदस्य, सभा मंत्री
सह सम्पादक—जगदेवसिंह सिद्धांती शास्त्री पूर्व लोकसभा सदस्य
इस अंक का ४० पैसे
COMPILED
DIGITIZED C-DAC 2005-2006
20 OCT 2005
CC0, Gurukul Kangri Collection, Haridwar. Digitized by eGangotri

पुनः स एवार्थः [किं किं जानाति] उपदिश्यते ॥

फिर अगले मन्त्र में उक्त अर्थ [क्या क्या जानता है] का ही प्रकाश किया है ॥ **अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति ।**

कृतानि या च कर्त्वा ॥ ऋ० १ । २५ । ११

पदार्थः—(अतः) पूर्वोक्तात्कारणात् (विश्वानि) (सर्वाणि) (अद्भुता) आश्चर्यरूपाणि (चिकित्वान्) केतयति जानातीति चिकित्वान् (अभि) सर्वतः (पश्यति) प्रक्षेते (कृतानि) अनुष्ठितानि (या) यानि (च) समुच्चये (कर्त्वा) कर्त्तव्यानि ।

अन्वयः—यतो यश्चिकित्वान् वरुणो धार्मिकोऽखिलविद्यो न्यायकारी मनुष्यो या यानि विश्वानि सर्वाणि कृतानि यानि च कर्त्वा कर्तव्यान्यद्भुतानि कर्माण्यभि-पश्यत्यतः स न्यायाधीशो भवितु योग्यो जायते ॥

भावार्थः—यथेश्वरः सर्वत्राभिव्याप्तः सर्वशक्तिमान् सन् सृष्टिरचनादीन्याश्चर्यरूपाणि कृत्वा वस्तूनि विधाय जीवानां त्रिकालस्थानि कर्माणि च विदित्वैतेभ्यस्तत्तत्कर्माश्रितंफल दातुमर्हति । एवं यो विद्वान् मनुष्यो भूतपूर्वाणां विदुषां कर्माणि विदित्वाऽनुष्ठातव्यानि कर्मण्येव कर्त्तु मुद्युक्तं स एव सर्वाभिद्रष्टा सन् सर्वोपकारकाण्यनुत्तमानि कर्माणि कृत्वाः सर्वेषां न्यायं कर्त्तु शक्नोतीति ॥

भावार्थः—जिस कारण जो (चिकित्वान्) सब को चेताने वाला धार्मिक सकल विद्याओं को जानने न्याय करने वाला मनुष्य (या) जो (विश्वानि) सब (कृतानि) अपने किये हुए (च) और (कर्त्वा) जो-जो आगे करने योग्य कर्मों और (अद्भुतानि) आश्चर्य रूप वस्तुओं को (अभिपश्यति) सब प्रकार से देखता है (अतः) इसी कारण वह न्यायाधीश होने को समर्थ होता है ॥

भाषाभावार्थः—जिस प्रकार ईश्वर सब जगह व्याप्त और शक्तिमान् होने से सृष्टि रचनादिरूपी कर्म और जीवों के तीनों कालों के कर्मों को जान कर इनको उन-उन कर्मों के अनुसार फल देने के योग्य है । इसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य पहिले हो गये उन के कर्मों और आगे अनुष्ठान करने योग्य कर्मों को करने में युक्त होता है वही सब को देखता हुआ सब के उपकार करने वाले उत्तम से उत्तम कर्मों को कर सब का न्याय करने के योग्य होता है । –(**ऋषि दयानन्द का भाष्य**)

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ अथर्व वेदे ॥

विनय प्रकाश

ऋषि दयानन्द के अपने शब्द बड़ी सरल संस्कृत और आर्य भाषा में लिखे हैं, जिस से सामान्य पढ़े सज्जन भी पूरा लाभ उठा सकें। साथ ही इन शब्दों में धात्वर्थ को आधार मान कर बड़े गम्भीर अर्थ भी प्रकाशित किये गये हैं, जिन में विद्वान् भी पूरा विचार कर सकें। ऋषि वेदमन्त्रार्थद्रष्टा, पूर्णयोगी, महावैज्ञानिक आप्त पुरुष थे। ऋषि के सभी ग्रन्थों का स्वाध्याय करने वाले महानुभावों को यह बात विदित ही है। ऋषि के भावों का अधिक से अधिक प्रचार किया जा सके, इसीलिये आर्यमर्यादा के इस विशेषाङ्क में स्वमन्तव्यामन्तव्य, आर्योद्देश्यरत्नमाला और आर्यसमाज के नियमों का प्रकाशन किया है। इन पर यत्रतत्र मैंने अपनी अल्पमति के अनुसार टिप्पणियां भी लिख दी हैं। साथ ही आर्य जगत् के प्रसिद्ध तीन विद्वानों ने भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वमन्तव्यामन्तव्य के किन्हीं मन्तव्यों पर टिप्पणियां भेजकर हमें कृतार्थ किया है। हम ने इन टिप्पणियों को भी उनके नामों सहित पृथक्-पृथक् रूप में प्रकाशित कर दिया है। इन महानुभावों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं। हमें आशा है, स्वाध्यायशील सज्जन इन टिप्पणियों से भी पूरा लाभ उठा सकेंगे। हमारा यत्न कैसा है—यह कहना हमारा काम नहीं। सुधीजन स्वयं जान सकेंगे। सभापुस्तकालयाध्यक्ष श्री जगन्नाथजी बी० ए० एल० बी० सिद्धान्त शास्त्री की शुभ प्रेरणा का यह प्रयास है।

—विनयावनत—जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री
सहसम्पादक आर्यमर्यादा, नई दिल्ली।

फाल्गुन अमावस्या
२०२५ वि०

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

सर्वतन्त्र सिद्धान्त[1] अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिस को अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते किन्तु जिसको आप्त[2] अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।

---

(१) सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ न्याय० १-१-२८ ॥ जिस विषय का किसी भी शास्त्र में विरोध न हो उसको अपने शास्त्र में स्वीकार करना "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" कहा जाता है। जैसे सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना सभी दर्शनों, तन्त्रों, मतों और सम्प्रदायों में तीनों कालों में एक समान ठीक माना जाता है, अतः "सत्य" सर्वतन्त्र–सार्वजनिकधर्म–नित्यधर्म–सनातनधर्म–वैदिकधर्म कहा जाता है। अर्थात् इस सिद्धान्त में किसी भी निष्पक्ष विद्वान् का मतभेद नहीं है। "विदितवेदितव्याः सन्तः सनातनं धर्ममाश्रयेयुः"–'जानने योग्य को जानते हुए सज्जन सनातनधर्म का आश्रय करें–" ऋग्वेद० १-११४-६ पर ऋषिदयानन्द कृत भास्य का भावार्थ।

(२) आप्तोपदेशः शब्दः। न्याय० १-१-७ "(आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा-दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः–वात्स्यायनभास्ये)" अर्थात् आप्त पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण है। वेदमन्त्रार्थद्रष्टा योगाभ्यासजनित विज्ञान से पदार्थों और उनके तत्त्वों को जानने वाला विद्वान् आप्त होता है, उन तत्त्वों को लोककल्याण की इच्छा से अन्यों को उपदेश करने के लिये वह शब्दों का प्रयोग करता है–वह शब्द प्रमाण होता है। अर्थ के प्रत्यक्ष का नाम आप्ति और उसके द्वारा जो व्यवहार करता

अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनीमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य[३] उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उस को मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन हैं उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उन का त्याग नहीं करता न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता[४] रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित[५] क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्याकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप[१]

है—वह आप्त होता है। (३) मन्तव्य का अभिप्राय "मत" है। ऋषि दयानन्द ने यहां कहा है कि जिस बात को तीनों कालों में एक समान माना जाता है, वही मेरा मत मन्तव्य है। (४) "डरता" इस शब्द का प्रयोग भय के अर्थ में नहीं किया गया, किन्तु आदर भाव से झुकने के प्रयोजन से है। (५) "गुणरहित" का भाव अविद्या अर्थात् विद्यादि से रहित है न कि सर्वथा सच्चरित्रतादि गुणों का अभाव।

(१) मनुष्यपनरूप में "पन" पद 'मनुष्यत्व' जाति के अर्थ में और 'रूप' पद

धर्म से पृथक् कभी न होवे, इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृजी आदि ने श्लोक कहे हैं उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूँ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा, यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥भतृहरिः।[२]

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख दुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥२॥
महाभारते।[३]

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥३॥ मनुः।[४]

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥४॥[५]

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ॥
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्[६] ॥५॥ उ० नि०।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन २ पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूँ उन २ का वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ कि जिन का विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने२ प्रकरण में कर दिया है। इनमें से :—

'स्वभाव' के लिये प्रयुक्त किया गया है, अतः पन और रूप दोनों एकार्थ के बोधक नहीं हैं। इससे अगला पद 'धर्म' दोनों अर्थों अर्थात् जाति और स्वभाव में प्रयुक्त होता है, इस शङ्का को दूर करने के लिये "मनुष्यपनरूप" शब्द का प्रयोग किया गया है। (२) राजा भर्तृहरि कृत नीति शतक ८४ वां श्लोक। (३) महाभारत उद्योग पर्व अध्याय ४० श्लोक १२+१३ तथा स्वर्गारोहणपर्व ५-६३। (४) मनुस्मृति, ८वां अध्याय, श्लोक १७। (५) मुण्डकोपनिषद्-३ मुण्डक, १ खण्ड, ६ श्लोक। (६) इस प्रमाण के पृथक्-पृथक् दो भाग हैं। पहिला—"न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम।" यहां "हि" के स्थान पर "अस्ति" पाठ भेद है, जैसे महाभारत शान्ति पर्व अध्याय १६२

लोक २४ तथा अनुशासन पर्व० अध्याय १४१ दूसरे स्थान पर अधिक पाठ भेद है—"नास्ति सत्यात्समो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।" आदि पर्व ७४-१०४ (गोरखपुर संस्करण) परन्तु पाठ भिन्न होने पर अर्थ एक समान है, अर्थात् सत्य से श्रेष्ठ कोई कर्त्तव्य नहीं और झूठ से निकृष्ट कोई पातक—दोष नहीं। आदि पर्व वाले प्रमाण सत्य के महत्त्व पर ही बल दिया गया है। महाभारत के भिन्न-भिन्न संस्करणों में सहस्रों पाठ भेद मिलते हैं। ऋषि दयानन्द के सामने न जाने कौन सा संस्करण था, परन्तु ऋषि ने "सत्य" को बतलाने के लिये यह अंश लिखा है, जो कि ठीक है स्वमन्तव्यामन्तव्य में दिये इस श्लोक का दूसरा भाग य० है—"नहि सत्यात्परं" ज्ञानं तस्मात्सत्यमाचरेत् ।" प्रमाण के लिये केवल ३० नि० लिखा है जो कि उपनिषद् का संक्षेप प्रतीत होता है। छान्दोग्योपनिषद् ७-१७-१ में यह पाठ मिलता है—"यदा वैविजानात्यथ सत्यं वदति नाविज्ञानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति ।" अर्थात् जब वह विशेष=तत्त्वरूप से जानता है, तब वास्तव में वह सत्य कहता है, विशेषरूप से न जानता हुआ सत्य नहीं कहता, अपितु विशिष्ट जानता हुआ ही सत्य बोलता है। सत्य का आधार विशेष ज्ञान है। स्वमन्तव्य में दिये प्रमाण का भी भाव यही है कि "सत्य से बढ़कर कुछ ज्ञान नहीं, उसी कारण मनुष्य विशेषरूप से विज्ञानवान् होकर सत्य का आचरण करे।' ऋषि दयानन्द ने यहां सत्य को धर्म मानकर ही ये प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। ऋषि के भाव का द्योतक सत्य और धर्म एकार्थक हैं, इसका प्रमाण बृहदारण्यकोपनिषद्—अध्याय १, ब्राह्मण ४ और खण्ड १४ में यह लिखा है—"सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ।" अर्थात् सत्य बोलते हुए मनुष्य के लिये कहा जाता है कि यह धर्म स्वरूप को कहता है और धर्म के स्वरूप को कहने वाले मनुष्य के लिए कहा जाता है कि यह सत्य कहता है। इस प्रकार निश्चय से सत्य और धर्म दोनों एकार्थक कहे जाते हैं। ऋषि के भाव को दो उपनिषदों ने कहा है, अतः प्रमाण में केवल ३. नि० लिखा गया है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द को सहस्रों ग्रन्थों के पाठ स्मृतिरूप में उपस्थित थे। जाने किस ग्रन्थ और संस्करण का उद्धरण ऋषि ने

जो सच्चिदानन्दादि[७] लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार[८] सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूँ ॥

लिखा है, परन्तु उनका भाव उपर्युक्त दोनों उपनिषदों के पाठों में सुरक्षित है। (७) ईश्वर के नामों की व्यख्या सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में दी है। जैसे वहाँ लिखा है—"(टुनदि समृद्धौ) आङ् पूर्वक इस धातु से "आनन्द" शब्द बनता है "आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः" जो आनन्दस्वरूप जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है इससे ईश्वर का नाम आनन्द है। (अस भुवि) इस धातु से "सत्" शब्द सिद्ध होता है "यदास्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म" जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत, भविष्य वर्त्तमान कालों में जिस का बाध न हो उस परमेश्वर को "सत्" कहते हैं (चिती संज्ञाने) इस धातु से "चित्" शब्द सिद्ध होता है, "यश्चेताति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म" जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्याऽसत्य का जनाने हारा है इसलिये उस परमात्मा का नाम चित् है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को "सच्चिदानन्तस्वरूप" कहते हैं। (८) परमेश्वर जीवों को फल देने में उनके कर्मानुसार ही स्वतन्त्र है, अर्थात् जीवों के कर्मों की अपेक्षा न करता हुआ स्वेच्छा से ही फल नहीं देता जैसे "ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात्।" न्यायदर्शन अध्याय ४, आह्निक १, सूत्र १९। एक नास्तिक कहता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के आधीन है जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे देता है जिस कर्म का फल नहीं चाहता नहीं देता इस बात से कर्म फल ईश्वराधीन है।" न पुरुष कर्माभावे फलानिष्पत्तेः।" न्याय द० ४.१.२०। "जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो तो बिना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता? इसलिये जैसा कर्म मनुष्य करता है वैसा ही फल ईश्वर देता है। इसलिये ईश्वर स्वतन्त्र पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता किन्तु जैसा कर्म जीव करता

२—चारों "वेदों" (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीति[९] संहिता मन्त्र भाग[१०] को निभ्रान्ति स्वत: प्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाण रूप हैं, कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रंथ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वत:प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ[१] हैं उनको परत:[२] प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से

है वैसा ही फल ईश्वर देता है।" सत्यार्थप्रकाश ८म समुल्लास। (९) प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में अयोजि रूप में जन्म लेने वाले सबसे पवित्रात्मा चार ऋषियों के (हृदयस्थात्माओं के) ज्ञान में चारों वेदों (एक-एक ऋषि के ज्ञान में एक-एक वेद) का शब्द अर्थ और सम्बन्ध रूप ज्ञान का प्रकाश कर देता है। इसीलिये वेदों को ईश्वर प्रणीत कहा जाता है। ज्ञान के साथ ही ईश्वर उन ऋषियों को भाषा भी देता है क्योंकि भाषा के बिना ज्ञान निष्प्रयोजन होता, अत: ज्ञान के साथ भाषा का बोध होना भी स्वत: सिद्ध है। यजुर्वेद अध्याय २६ मन्त्र २ में "यथेमां वाचं कल्याणी भावदानि जनेभ्य:" इस कल्याणी वेद-वाणी को सर्व मनुष्यहितार्थ उपदेशरूप में देता हूँ। यहां 'आ+वदानि' पद स्पष्ट रूप सें भाषा ज्ञान का परिचायक है। (१०) कुछ लोग ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद ही मानते हैं, अत: स्पष्टीकरण के लिये ऋषि ने 'मन्त्रभाग संहिता' लिखा है, ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास है—वे ऋषि मुनियों के बनाये हुए वेद-व्याख्यान ग्रन्थ हैं—"आख्यान" नहीं। वेदों में नित्य सत्य ज्ञान है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ही ईश्वर प्रणीत मन्त्र संहिताएं हैं।

(१) ब्राह्मण ग्रन्थ–ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। अङ्ग–शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। इनमें अनेक पुस्तकें हैं। उपाङ्ग–सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, वेदान्त और मीमांसा (इन को दर्शन और शास्त्र नाम से भी कहा जाता है)। उपवेद–आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद इनमें प्रत्येक में भिन्न ग्रन्थ हैं)। शाखाएँ–११२७–आश्वलायन आदि (इन में ४ मूल वेदों को मिलाकर कहीं-कहीं ११३१ भी लिखते हैं, परन्तु ४ मूल

प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूँ।

३—जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको "धर्म" और जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेद विरुद्ध है। उसको "अधर्म" मानता हूँ॥

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ[3] नित्य है उसी को जीव मानता हूँ॥

५—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य[4] से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य[5] से अभिन्न हैं, अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ॥

संहिताएं ईश्वर प्रणीत हैं और ११२७—ऋषियों की बनाई हुई हैं)। उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य बृहदारण्यक और श्वेताश्वेतर ११ प्रसिद्ध हैं, स्मृति—मनुस्मृति प्रसिद्ध और सर्वप्राचीन है, अन्य याज्ञवल्क्य स्मृति आदि नवीन और अनेक हैं। मूल संहिताएं ४ मूल वेदों को छोड़कर ये सब ग्रन्थ ऋषिकृत हैं। (२) चारों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद स्वतः प्रमाण हैं। इनकी सिद्धि इन्हीं से होती है, अतः स्वतः प्रमाण कहे जाते हैं। इन चारों वेदों के अतिरिक्त जितने भी ग्रन्थ हैं वे परतः प्रमाण कोटि में माने जाते हैं। अर्थात् वेदानुकूल होने पर इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है—यदि इनमें कोई बात वेद विरुद्ध न हो तब। यदि इनमें कोई बात वेदानुकूल नहीं है अथवा वेद विरुद्ध है, तो उस बात का प्रमाण नहीं माना जाता। इसी कारण परतः प्रमाण कोटि में इनकी गणना की जाती है। (३) जीव स्वरूप से ही "अल्प" है अतः अल्पज्ञता भी सिद्ध हो जाती है। (४) विरुद्ध धर्म के भाव को वैधर्म्य कहते हैं। जैसे जल शीत और अग्नि उष्ण है अतः जल और अग्नि विरुद्ध धर्म—वैधर्म्यभाव वाले होने से भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। (५) समान धर्म के भाव को साधर्म्य कहा जाता है, जैसे जल भी जड़ है। जल और अग्नि दोनों द्रव्यों में जडता समान धर्म है, अतः स्वरूप से जल और

६—"अनादि" पदार्थ तीन हैं एक ईश्वर, द्वितीय जीव,[६] तीसरा प्रकृति[७] अर्थात् जगत् का कारण[८] इन्हीं को नित्य भी कहते हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य[९] है ॥

७—"प्रवाह से अनादि" जो संयोग[१] से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग[२] के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे[३] प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य[४] उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ ॥

अग्नि भिन्न-भिन्न द्रव्य होते हुये भी जडता समान धर्म वाले कहे जाते हैं। इतना ही इन में साधर्म्य है। (६) जीव असंख्य है, परन्तु सब में जीवत्व जाति एक होने से यहाँ जीव को एक पदार्थ कहा गया है। (७) प्रकृति भी सत्व,रजः और तमः इन तीन प्रकार के मूल तत्त्वों की साम्यावस्था रूप एक संघात है, इसीलिये प्रकृति को भी एक ही पदार्थ कहा जाता है। वैसे जीव के नाना होने के समान सत्व, रज और तमः तीनों तत्त्व भी नाना हैं। (८) यहां कारण का अभिप्राय उपादान कारण से है। सांख्य में प्रकृति को उपादान कारण कहा जाता है और न्याय तथा वैशेषिक में इसी कारण का नाम "समवायी" शब्द से कहा जाता है। योग और वेदान्त दर्शनों में सांख्य दर्शन की प्रक्रिया का व्यवहार होता है। प्रक्रिया में नाम की भिन्नता है, अर्थ एक ही है। (९) नित्य उस पदार्थ को कहा जाता है जो उत्पत्ति और विनाश से रहित होता है अर्थात् तीनों कालों में वर्त्तमान रूप से बना रहता है।

(१) संयोग=यहाँ संयोग का अभिप्रायः दो अथवा अधिक परस्पर व्यवधान के बिना परमाणुओं के मिलने से है। (२) वियोग परस्पर मिले हुए परमाणुओं का अलग-अलग हो जाना वियोग कहा जाता है। (३) जिससे—यहां यह भाव है कि परमाणुओं में प्रथम बार जो संयोग करने वाला परमाणुओं का धर्म है उससे, (४) परमाणुओं को सर्वप्रथम मिलाने वाले परमाणु गतधर्म को सामर्थ्य कहा जाता है। वह सामर्थ्य परमाणुओं में अनादि रूप से रहता है। परमाणुओं के अलग-अलग हो जाने पर भी वह सामर्थ्य परमाणुओं में बना रहता है, परमाणुओं में वियोग होने पर उसका नाश नहीं हो जाता। प्रलयकाल में भी परमाणु अपने सत्तास्वरूप में बने रहते हैं। "परं वा त्रुटेः।" न्या० द०

८—"सृष्टि" उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों[५] का ज्ञान युक्ति-पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना ॥

९—"सृष्टि का प्रयोजन" यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त[६] गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी न किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उसने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के सामर्थ्य[७] की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी ॥

१०—"सृष्टिसकर्तृक" है इसका कर्त्ता[८] पूर्वोक्त ईश्वर है, क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और पदार्थ[९] में अपने आप यथायोग्य बीजादि[१०] स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का "कर्त्ता" अवश्य[११] है॥

---

४. २. १५ अर्थात् पदार्थ का वह अन्तिम अवयव—टुकड़ा जिसका आगे और टुकड़ा नहीं हो सकता, उस अन्तिम टुकड़े का नाम परमाणु है और वह प्रथम संयोग कराने का सामर्थ्य भी परमाणुओं में बना रहता है। इसी कारण प्रलय के पश्चात् फिर सृष्टि परमाणुओं के संयोग से बनती है। (५) द्रव्यों से अभि-प्रायः उपर्युक्त परमाणुओं से है। इन द्रव्यों का मेल ज्ञान और युक्तिपूर्वक होता है, अतः इस मेल का करने वाला चेतनस्वरूप ईश्वर है। (६) सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर निमित्त करता है। सृष्टि बनाने का प्रयोजन जीवों को उनके कर्मानु-सार कर्मफल—सुख-दुःख का भोग कराना और अधिकारी मुमुक्षुओं को मुक्ति का आनन्द प्राप्त कराना है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने का सामर्थ्य निमित्त कारण रूप से ईश्वर में है। (७) इसी सृष्टि रचना आदि कर्म से ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव की सफलता होती है। (८) कर्त्ता से अभिप्रायः चेतन निमित्त कारण से है। (९) जड़ पदार्थ में अपने आप नियमपूर्वक बनने और बिगड़ने का सामर्थ्य नहीं है। (१०) ईश्वरीय सृष्टि की रचना आदि में अमैथुनी (माता-पिता के संयोग के बिना) रूप में ईश्वर ही सृष्टि के सब पदार्थों के बीजों और सब मनुष्य, पशु, पक्षी, खरीसृपों आदि की योनियों के शरीरों के प्रथम ढांचों का निर्माण करके उनमें जीवों का संयोग कर देता है। इसी के साथ प्राण, मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध स्थापित कर देता है। पहिली अमैथुनी ईश्वरीय सृष्टि के पश्चात् योनिज सृष्टि चलती है। इसको मैथुनी सृष्टि कहते हैं। जीवों द्वारा की जाने वाली रचना को ईश्वर नहीं करता। (११) अवश्य शब्द से

११—"बन्ध" सनिमित्तिक अर्थात् अविद्या[१२] निमित्त से है। जो-जो पाप कर्म ईश्वर भिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख[१३] फल करने वाले हैं इसलिये यह "बन्ध" है कि जिस की इच्छा नहीं और भोगना[१४] पड़ता है ॥

१२—"मुक्ति" अर्थात् सर्व दुखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचारना[१५], नियत समय[१६]

अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर में कर्तृत्व धर्म की सिद्धि की गई है। (१२)अविद्या का भाव अज्ञानपूर्वक कर्म से है। (१३) जीवों के पाप रूप कर्म का फल दुःख है और पुण्य रूप कर्मों का फल सुख है। (१४) अनिच्छा होते हुए भी जीव-जीव को फल भुगवाने के लिए बन्धन (शरीरादि सम्बन्ध से) में डालता है। (१५) मुक्तिकाल में जीव सङ्कल्पमय शरीर (मानस) से सर्वत्र जाता आता है जैसे "तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२.१०) 'अध्यैरयन्त' का अर्थ है अविकारी रूप में सब जगह पहुँचना। मुक्ति में मुक्तात्मा एक ठिकाने नहीं रहते किन्तु "अमृतमानशानाः"(यजु० ३२.१०) ईश्वर के आनन्द का ग्रहण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करते हैं। (१६) नियम समय का अभिप्राय यह है कि जितना काल ३६ हजार बा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय काल का है उतना समय मुक्ति में जीव आनन्द भोगता है। "यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" (छा० उप० ८. १५. १) अर्थात् ब्रह्मलोक—ब्रह्मदर्शन का काल इतना है—सृष्टि का काल २ अरब ३२ करोड़ वर्ष और इतना ही प्रलय काल—दोनों को मिलाकर ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष हुए—यह काल ब्रह्मलोक का १ दिन रात होता है। इस प्रकार १०० वर्ष की आयु में ३६००० दिन रात होते हैं। तब ३६००० को ८ अरब ८६ करोड़ से गुणा करने में जो काल संख्या बनती है, इतने नियम तक जीव मुक्ति का आनन्द भोगता है। मुक्तिकाल के बीच में जीव संसार में जन्म नहीं लेता जैसे ऋषि ने संस्कारविधि के संन्यास प्रकरण में दिए ऋग्वेद के मन्त्र ९.११३.११ में प्रयुक्त "अमृतम्" पद का अर्थ यह लिखा है – "जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त कि जिस मुक्ति के समय के मध्य में संसार

पर्यन्त मुक्ति के आनन्द के भोग के पुनः[१७] संसार में आना ॥

१३—"मुक्ति के साधन" ईश्वरोपासना अर्थात योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१४—"अर्थ" वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और

में नहीं आना पड़ता"। इसी भान्ति इसी प्रकरण में मनुस्मृति के दिए प्रमाण अध्याय ६ के श्लोक ८० और ८४ के अर्थों की टिप्पणी में ऋषि ने लिखा है "निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता। तथा अनन्त इतना ही है कि सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे। पहिला अर्थ मनुस्मृति के ८१वें श्लोक में "शाश्वतम्' पद के अर्थ की टिप्पणी रूप में है और दूसरा अर्थ मनुस्मृति के ८४वें श्लोक में "आनन्त्यम्" पद के अर्थ की टिप्पणी रूप में दिया गया है। उपर्युक्त पूरे श्लोक नहीं संस्कारविधि के संन्यास प्रकरण में देखें तथा ऋ० ६.११३.११ मन्त्र के "अमृतम्" पद का अर्थ भी वहीं देखें। (१७) इसका भाव यह है कि मुक्त आत्मा मुक्तिकाल में आनन्द भोगकर फिर संसार में जन्म लेते हैं। इसके लिए सत्यार्थप्रकाश के नवें समुल्लास में दिये ऋग्वेद १.२४.१ तथा २ दोनों मन्त्रों के अर्थ देखें और ऋषि दयानन्द के ऋग्वेद भाष्य में भी इनके अर्थों को देखें। प्रकरणानुसार इतना ही लिखा जाता है—"हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।" इस अर्थ को बतलाने वाले वेद के पद ये हैं—"मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।" इसका अर्थ ऊपर दे ही दिया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुक्तिकाल के समाप्त होते ही मुक्तात्मा माता-पिता के सम्बध से माता के गर्भ में आता है। अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने की बात नहीं है। संसार के बीच के समय में मुक्ति की समाप्ति पर अनयोनिज–अमैथुनी सृष्टि का कुछ काम नहीं, क्योंकि अमैथुनी सृष्टि तो आरंभ में ईश्वरीय सृष्टि होती है, जिसका वर्णन अभी ऊपर किया जा चुका है। यह सब रहस्य ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश के बार-बार मनन करने से ही खुल सकता है।

जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।

१५—"काम" वह है जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६—वर्णाश्रम गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

१७—"राजा[1]" उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित न्यायधर्म की सेवा, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उसको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढाने में सदा यत्न किया करे॥

१८—"प्रजा" उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत्[2] वर्त्ते॥

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे सो न्यायकारी है, उसको मैं भी ठीक मानता हूँ॥

२०—"देव" विद्वानों को और अविद्वानों "असुर" पापियों को "राक्षस" अनाचारियों को "पिशाच[3]" मानता हूं॥

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य्य, अथिति, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना "देवपूजा" कहाती है, इससे विपरीत अदेवपूजा, इनकी मूर्तियों[4]

---

(१) राजा, सभापति और अध्यक्ष शब्द एकार्थक हैं "जैसे राजा जो सभापति" (सत्यार्थप्रकाश ८ वां समुल्लास) राजा को सभा और प्रजा के आधीन रहना चाहिये–यह वचन इसी स्थल पर लिखा है। (२) पुत्रवत जहां राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत् वर्तना चाहिये, वहां इस स्थल से यह भाव भी प्रकट होता है कि प्रजा भी राजा को पुत्रवत् समझें, पुत्रवत् इसलिये कहा गया है कि प्रजा ही निर्वाचन द्वारा राजा का निर्माण करती है। (३) पिशाच, राक्षस, असुर और देव–ये सब मनुष्य जाति के ही भाग हैं। गुण, कर्म और स्वभाव में भिन्न होने से मनुष्यों के ये चार विशेष भेद दिये गये हैं। (४) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, राजा और धर्मात्मा जन आदि विद्वानों की मूर्त्तियों से उनके शरीर से

को पूज्य[५] और पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य मानता हूँ ॥

२२—"शिक्षा" जिससे विद्या, सभ्यता,[६] धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा[७] कहते हैं ॥

२३—"पुराण—जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी[१] नाम से मानता हूँ अन्य भागवतादि को नहीं ॥

अभिप्राय है न कि उनकी पत्थर आदि की मूर्त्तियों से, क्यों पूज्य यही हैं। इनका सत्कार, सेवा और आज्ञा का पालन करना ही इनकी पूजा कहलाता है। क्योंकि आगे लिखा है कि "और पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य मानता हूँ।" (५) इस से प्रकट है कि माता आदि चेतनों की शारारिक अवस्था की मूर्त्तियां पूजा योग्य हैं। यद्यपि माता आदि के शरीर भी जड़ हैं, परन्तु इन में चेतन जीव का निवास है। परन्तु पाषाण आदि जड़ मूर्त्तियों में चेतन जीव का संयोग नहीं है। ईश्वर की पूजा भी जड़ पाषाणादि मूर्त्तियों द्वारा नहीं करनी चाहिये। उपासना वहीं की जा सकती है, जहाँ उपास्य–ईश्वर, उपासक–जीव एक ही स्थान पर हों। यद्यपि सर्वव्यापक होने से जड़ पाषाणादि मूर्तियों में उपास्य ईश्वर है, परन्तु उन में उपासक जीव नहीं है। ऐसा स्थान मनुष्य का हृदय देश है, जहाँ ईश्वर और जीव दोनों हैं। (६) सभ्यता का अर्थ है–रहन-सहन का शिष्ट सम्मत ढंग। संस्कृति इससे भिन्न पदार्थ है। (७) शिक्षा नाम केवल विद्या ग्रहण का ही नहीं है, प्रत्युत शिक्षा का भाव है "सीख" इसमें अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त और भी बर्ताव करने योग्य अनेक ढंगों का संग्रह समझना चाहिये।

(१) पुराण आदि शब्द विशेष विद्याओं के बोधक हैं, इनका मूल अथर्ववेद में मिलता है, वेद में पुराणादि ग्रन्थों का वर्णन नहीं, वहां तो विद्याओं के गुणवाची पुराण आदि नाम हैं जैसे "इतिहास्य च पुराणस्य च गाथानां च नारशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।" अथर्व० काण्ड १५, सूक्त ६, मन्त्र १०।

२४—"तीर्थ"—जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूँ इतर जलस्थलादि को नहीं

२५—"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा" इसलिये है कि जिससे संचित[2] प्रारब्ध बनते जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है ॥

२६—"मनुष्य" को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूँ ॥

२७—"संस्कार" उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवें वह निषेकादि श्मशानान्त[3] सोलह प्रकार का है इस को कर्त्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए ॥

२८—"यज्ञ" उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथा योग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधी को पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ ॥

२९—जैसे "आर्य" श्रेष्ठ और "दस्यु" दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूँ ॥

वेद से ही सब पदार्थों के गुणवाची यौगिक नामों को लेकर ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये, उन्हीं को पुराण आदि नाम से कहा जाता है। भागवतादि पुराणों में परस्पर मतमतान्तर का विरोध पाया जाता है, अतः पुराण नाम से इन भागवतादि ग्रन्थों का नाम पुराण हो सकता है। (२) संचित और प्रारब्ध की व्याख्या 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' के प्रकरण में की जावेगी। आर्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक का प्रकाश की स्वमन्तव्यामन्तव्य के साथ ही किया गया है। (३) गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त १६ संस्कार माने गये हैं जैसे निषेकादिश्मशान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः" मनुस्मृति २-१६ अर्थात् शरीर का आरम्भ गर्भाधान और अन्त दाहक्रिया पर है, मन्त्रों द्वारा इनका विधान कहा गया है। संस्कार

३०—"आर्य्यावर्त्त" देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है, इन चारों के बीच[४] में जितना देश है उसको "आर्य्यावर्त्त कहते और जो इनमें सदा से रहते हैं उनको भी आर्य [५]कहते हैं ॥

३१—जो साङ्गोपाङ्ग[१] वेदविद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है।

३२—"शिष्य" उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।

३३—"गुरु" माता-पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और जो असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है।

शब्द की व्याख्या आर्योद्देश्यरत्नमाला के प्रकरण में की जावेगी। (४) बीच का अभिप्राय यह है कि जहां तक इनका विस्तार है वहां तक आर्य्यावर्त्त देश कहा जाता है, जैसे सत्यार्थप्रकाश ८ वें समुल्लास में मनु० २-२२+२७ की व्याख्या में लिखा है—"हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।" (५) "और जो इनमें सदा से रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं" यह एक परिभाषा है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी मतमतान्तर का मानने वाला है, परन्तु वह आर्यावर्त्त में रहने से "आर्य" नाम से कहा जावेगा—यह ऋषि ने राजनीति के रूप में "आर्य" शब्द की परिभाषा दी है।

(१) अङ्ग और उपाङ्गों की गणना दूसरे मन्तव्यामन्तव्य की टिप्पणी में की जा चुकी है, वहीं देखें। निरुक्त १-२-४ में आचार्य पद की निरुक्ति ऐसे की है—"आचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा।" अर्थात् आचार्य उसको कहते हैं जो कि पूजा के योग्य है,

३४—"पुरोहित"[२] जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५—"उपाध्याय" जो वेदों का एक देश वा अङ्गों को पढ़ाता हो।

३६—"शिष्टाचार" जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विश्राम ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों[३] से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है।

३७—प्रत्यक्षादि आठ[४] प्रमाणों को भी मानता हूँ।

३८—"आप्त" जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा सब के सुख के लिये यत्न करता है उसी को आप्त कहता हूँ।

३६—"परीक्षा" पांच प्रकार की है। जो ईश्वर उसके गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टि-क्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा[१] की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४०—"परोपकार" जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठचार और सुख बढ़ें उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

श्रेष्ठाचार को ग्रहण कराता है, शास्त्रों के अर्थों को पूरे रूप में शिष्यों को देता है और उनकी बुद्धि का भी विकास करता है। (२) संस्कारविधि के जातकर्म संस्कार पर ऋषि दयानन्द ने टिप्पणी में लिखा है—"धर्मात्मा, शास्त्रोक्त विधि को पूर्ण रीति से जाननेहारा, विद्वान्, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूज्य, सर्वोपरि गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा हैं।" (३) प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण आर्योद्देश्यरत्नमाला में ऋषि ने दिये हैं, इन पर वहीं विशेष लिखा जावेगा। (४) प्रमाण ८ हैं, ४, हैं, ३ हैं अथवा २ हैं, इस संख्या के निर्णयार्थ भी आर्योद्देश्यमाला के प्रकरण में लिखा जावेगा।

(१) जैसे किसी कारण से अपने आत्मा को सुख वा दुःख होता है, उसी भांति दूसरों के सुख वा दुःख को समझना आत्मा की पवित्रता कहलाती है। जिस व्यवहार से अपने को दुःख पहुँचता है, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये और जिससे अपने आत्मा को सुख पहुँचा हो, वैसे व्यवहार को

४१—"स्वतन्त्र" "परतन्त्र" जीव अपने कामों में स्वतन्त्र[२] और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२—"स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री[३] की प्राप्ति का है।

४३—"नरक" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री[४] की प्राप्ति होना है।

४४—"जन्म[५]" जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्यभेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ।

४५—शरीर के संयोग[६] का नाम जन्म और वियोगमात्र[७] को मृत्यु कहते हैं।

दूसरों को सुख पहुंचाने के लिये करे। (२) स्वतन्त्र का अर्थ ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में ऐसे किया है—"स्वतन्त्र किसे कहते हैं ? (उत्तर) जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों, जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता।" ७–समुल्लास। (३)+(४) सुख और दुःख जिन-जिन साधनों से होता है, उन सबको सुख और दुःख की सामग्री कहा जाता है। सुख विशेष के भोग का नाम ही स्वर्ग और दुःख विशेष के भोग का नाम नरक है। सामग्री पद का ग्रहण इसलिये किया गया है कि उनके बिना सुख दुःख की उपलब्धि नहीं हो ससती। (५)+(६)=जीव के साथ शरीर के सम्बन्ध होने का अर्थ जन्म और शरीर से जीव के निकल जाने का नाम मृत्यु है। "पूर्व" से जो जन्म हो चुका अर्थात् भूतकाल में हुआ था। "मध्य" का अर्थ वर्त्तमान जन्म से है और "पर" का अर्थ जो इस जन्म के आगे भविष्यत्काल में होगा। (७) इसका भाव यह है कि मृत्यु होने पर केवल स्थूल शरीर का ही वियोग होता है। "सूक्ष्म शरीर जन्म मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। तीसरा कारण शरीर जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा होती है वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्द स्वरूप में मग्न जीव होते हैं। इसी समाधि संस्कार जन्य

४६—"विवाह" जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना वह "विवाह" कहाता है।

४७—"नियोग" विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल[८] में पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना[९]।

४८—"स्तुति" गुण कीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना, इस का फल प्रीति आदि होते हैं।

४९—"प्रार्थना" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं। उनके लिये ईश्वर से याचना करना और इस का फल निरभिमान आदि होता है।

५०—"उपासना" जैसे ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप[१] हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात्[२] करना उपासना कहाती है, इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

शुद्ध शरीर का पराक्रम भक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।" सत्यार्थ-प्रकाश ९ वां समुल्लास। (८) जो स्त्री या पुरुष जितेन्द्रिय रह सकें, किन्तु विवाह का नियोग भी न करें, तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये।"—सत्यार्थप्रकाश चौथा समुल्लास। (९) विवाह और नियोग का प्रयोजन केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही है, विषय वासना में फंसना नहीं। विवाह की भांति ही नियोग भी विधवा स्त्री और विधुर पुरुष की इच्छा से नियमपूर्वक प्रसिद्धि से होता है। प्रसिद्धि का अभिप्राय जनता की जानकारी से है।

(१) समीप शब्द से सिद्ध होता है कि ईश्वर और जीव पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। योगाभ्यास में भी दोनों का भान प्रथक्-प्रथक् होता है। ७ समुल्लास में लिखा है'—'अष्टांग योग से परमात्मा के स मीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है वह २ सब करना चाहिये।" (२) "प्रत्यक्ष" पद का यह स्पष्ट भाव है कि

५१—"सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना" जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुण निर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मान कर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुण निर्गुणोपासना होती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रकरण में है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है अर्थात् जो २ बात सबके सामने माननीय है उसको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धातों को स्वीकार करता हूँ और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं; उनको मैं प्रसन्न[3] नहीं

जीवात्मा परमेश्वर का साक्षात् करता है जैसे—"अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापाक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।" अयम् अपने से दूसरे के लिये "यह" कहा जाता है। "जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।" ७ म समुल्लास। "इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।" ७ म समुल्लास। "शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।" १२ वां समुल्लास। परमात्मा का प्रत्यक्ष आत्म-मानस प्रत्यक्ष कहा जाता है। "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" तै०उ०नि० में लिखा है कि तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्"—यजुर्वेद अ० ३१.१८ इसका अर्थ यह है कि (अहम्) मैं उपासक योगी (महान्तम्) महान् (एतम्) इस (प्रत्यक्षं पुरुषम्) सर्वत्र व्यापक परमेश्वर को (वेद) जानता हूँ। अर्थात् परमेश्वर का देखना चर्मचक्षुओं से नहीं, अपितु यह ज्ञान गम्य है। (३) "प्रसन्न" शब्द का प्रयोग ऋषि ने "पसन्द" अर्थ में किया है।

करता, क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को एक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा यत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त-जनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावें" जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धी करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु ॥

*   *   *   *

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्य्यमा ॥ शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्री विरजानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः स्वमन्त-व्यामन्तव्यसिद्धान्तसमन्वितः सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः सत्यार्थप्रकाशोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्त्तिमगमत्।

टि० अब आगे आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० महामुनि जी शास्त्री विद्याभास्कर-आचार्य गुरुकुल विद्यापीठ हरयाणा-भैंसवाल की टिप्पणियां दी जाती हैं—

(५ वां मन्तव्य) ईश्वर और जीव दो भिन्न सत्ताएं हैं (पदार्थ हैं) एक नहीं, क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। यथा जीव स्वरूप से अल्प-अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है। जिनमें वैधर्म्म (असमानता) होता है वे पृथक् (भिन्न) पृथक् होते हैं एक (अभिन्न नहीं हो सकते) यथा जीव राग द्वेष अज्ञान अविद्या आदि युक्त है, ईश्वर ऐसा नहीं है। ईश्वर और जीव उपास्य उपासक, व्याप्य व्यापक, पिता पुत्र, गुरु शिष्य, उपदेष्टा उपदेश्य आदि

सम्बन्ध वाले हैं। सम्बन्ध द्विष्ठ (दो म) होता है। एक में सम्बन्ध नहीं होता। (७ वां) "इन तीनों को" संयोग, वियोग और संयोग वियोग के सामर्थ्य को।' (६ वां) सृष्टि निमित्त "पद" गुण, कर्म, स्वभाव इन तीनों का विशेषण है। अर्थ=सृष्टि है निमित्त कारण जिनका (एतादृश ईवश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव 'यथावत् भोग करना' यहां 'करना' का अभिप्राय 'कराना' है। (१० वां) 'सकर्तृक' का अर्थ है कर्त्तावाली। "कर्त्ता अवश्य है का अभिप्राय-कर्त्ता आवश्यक है, जानना चाहिये अथवा अवश्य मन्तव्य है। (११ वां) "जो २ पाप कर्म, ईश्वर-भिन्नोपासना, अज्ञान आदि सब दुःख फल करने वाले हैं" इसमें स्पष्टार्थ के लिये 'अज्ञानादि' के पश्चात्–"हैं वे" इन दो पदों का अध्याहार कर लेना चाहिये। (२१ वां) 'इनकी मूर्तियों को' इसका आशय है 'इन चेतन मूर्त्तियों को' अर्थात् माता-पिता आदि चेतनों की मूर्तियों को। (२५ वां) यहां पुरुषार्थ का अभिप्राय 'वर्तमान में किया जाने वाला उद्योग' समझना चाहिये। जिससे सञ्चित प्रारब्ध बनते का अर्थ 'सञ्चित और प्रारब्ध' से जानना चाहिये। [क्योंकि कर्मों की तीन अवस्थाएँ हैं, प्रारब्ध क्रियमाण और सञ्चित)। 'जिसके सुधरने से सब सुधरते-यहाँ 'सब' शब्द से प्रारब्ध, क्रियमाण और सञ्चित तीनों लेने चाहियें। (२६ वां) आशय यह है 'जो सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख दुःख हानि लाभ में वर्त्तता है उसको (मनुष्यों में) श्रेष्ठ मनुष्य और जो अन्यथा वर्त्तता है उसे बुरा मनुष्य समझता हूँ। मनुष्य की यह परिभाषा महर्षि ने इसलिये की-कि उस काल में तथा (वर्त्तमान काल में भी) अन्धमतवादी जन स्वमतावलम्बी पापी जन को भी अच्छा समझते थे (वा समझते हैं) परमात्मावलम्बी धर्मात्मा को भी बुरा मानते थे। ऐसा ही वर्त्तमान काल शें भी राजनैतिक मतमतान्तरों (पार्टियों में भी हो रहा है। (२८ वां) यहाँ यज्ञ के चार प्रकार के अर्थ किये हैं। एक विद्वानों का सत्कार करना। दूसरा यथायोग्य शिल्पकला रसायनविद्या आयुर्वेदोक्तादि, पदार्थ विद्या परमाणु आदि के संयोग वियोग विशेष को वैज्ञानिक रीति से जानना तथा इन सबसे उपयोग लेना–लोकोपकारक कार्य करना। तीसरा विद्या-आदि शुभगुणों का दान चौथा अग्नि होत्रादि से अश्वमेधान्त याग विशेष करना। 'उसको उत्तम समझता हूँ का आशय–स्व-पर-उपकारक कार्यों में यज्ञ कर्म को

सबसे भला उपकारक कर्म समझता हूं (ज्ञो वे श्रेष्ठतमं कर्म) अथवा पूर्वोक्त चार प्रकार के यज्ञ कर्म में अन्तिम अग्नि होत्रादि को सर्वोत्तम कर्म समझता हूं। (३० वां) 'आदि सृष्टि' प्रलयानन्तर होने वाली प्रारम्भिक सृष्टि। यहां हिमालय आदि को 'अभिविधि' अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। 'मर्यादा' में नहीं। अभिविधि=परला किनारा। मर्यादा=इधर का किनारा। 'जो इन में सदा से रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं' का आशय–जो श्रेष्ठ धर्मात्मा मनुष्य हैं वे तो आर्य हैं ही परन्तु जो आर्यवर्त्त के आर्यों में (आर्यवर्त्त देश में) बाहर से आकर भी सदा के लिये पीढी दर पीढ़ी से निवास करने लग जाते हैं। स्व जन्मभूमि समझते हैं। वे भी आर्यत्व को प्राप्त करके आर्य पद वाच्य हो जाते हैं। (४० वां) 'उस के करने को' वर्त्तमान कालिक भाषा में वैसा करने को, अर्थ=उस प्रकार के कर्म करने को क्योंकि प्रथमोक्त 'जिस (से)' (यत्) पश्चाद् उक्त 'उस (के)' (तत्) दोनों सर्वनाम हैं और 'कर्म' के विशेषण हैं। (४१ वां) जीव स्वतन्त्र भी है। और परतन्त्र भी परन्तु परमात्मा 'स्वतन्त्र' ही है। (४७ वां) विवाह के पश्चात् पति वा पत्नी के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि रोगों में स्त्री का पुरुष के आपत्काल में स्व वर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ स्त्री का, स्व वर्ण वा अपने से हीन वर्ण स्त्री के साथ पुरुष का सान्तनोत्पत्ति करना।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध महोपदेशक श्री पं० शान्तिप्रकाश जी शास्त्रार्थ महारथी गुड़गावां ने प्रथम मन्तव्य में प्रयुक्त "सर्वशक्तिमान" पद पर इस प्रकार टिप्पणी लिखी है। "(प्रश्न) ईश्वर सर्वशक्तिमान है वा नहीं? (उत्तर) है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान का अर्थ समझते हो वैसा नहीं, किन्तु सर्वशक्तिमान् का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन प्रलयआदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था किञ्चत् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। (प्रश्न) हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (उत्तर) वह क्या चाहता है जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार अनेक ईश्वर बना स्वयं अविशान् चोरी व्यभिचारादि पाप कर्म

कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है वह कभी नहीं घट सकता इस लिये सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हमने कहा वही ठीक है ॥"—सत्यार्थ प्रकाश-७ वां समुल्लास ॥

इससे आगे आर्यसमाज के प्रकाण्ड विद्वान् पं. वृहस्पति जी आचार्य वेद शिरोमणि एम. ए. देहरादून ने ४० वें मन्तव्य "उपकार" पर यह लिखा है- ऋषि की इस परिभाषा का आशय यही है कि किसी व्यक्ति की केवल शारीरिक अथवा आर्थिक सहायता करना ही परोपकार नहीं कहलाता, अपितु उसको दुर्गुण दुर्व्यसन और दुःखों से छुटकारा दिलाकर, सद्गुण, सद्व्यसन और सुख को प्राप्त कराना ही उपकार कहाता है। संसार भर में ऐसे मानव समाज का विकास, व्यवस्था और स्थापना करना ही आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, जिससे मानव समाज के सभी व्यक्तिगत सदस्य भी सद्गुणी, सद्व्यसनी और सुखी श्रेष्ठ आर्य और अपने स्वामी 'अर्य' ईश्वर के पुत्र और भ्रातृभाव से मुक्त हों। ऋषि ने "आर्य" शब्द किसी जाति विशेष के संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है ॥"

पृ० २३ पर आये वेदमन्त्र की टिप्पणी—

(१) यह मन्त्र भाग यजूर्वेद के २६ वें अध्याय के ९ वें मन्त्र का है। (२) इससे अगला भाग तैत्तिरीयोपनिषद् का है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ में दोनों भाग दिये हैं और सत्यार्थप्रकाश के अन्त में भी दोनों ही दिये हैं, परन्तु दूसरे भाग में आरम्भ और अन्त में पाठ की भिन्नता है। आरम्भ में भविष्यत्काल का प्रयोग है—जैसे "त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु, तद्वक्तारभवतु, अवतु मामवतु वक्तारम्। अर्थात् आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सबको नित्य ही प्राप्त हैं। जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है उसका मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूंगा। सत्य बोलूं, सत्य मानूं और सत्य ही करूंगा। सो आप मेरी रक्षा कीजिये। सो आप मुझ आप्त वक्ता की रक्षा कीजिये कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो क्योंकि जो आप की आज्ञा है वही धर्म और जो उससे विरुद्ध वही अधर्म है। यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ के लिये है।"—१ म समुल्लास। यह सत्यार्थ-

करने हारे (अग्ने) सत्यस्वरूप परमेश्वर ! आप ने जो कृपा करके मेरे लिये (व्रतम्) सत्यलक्षणादि प्रसिद्ध नियमों से युक्त सत्याचरण व्रत को (अराधि) अच्छे प्रकार सिद्ध किया है (तत्) उस अपने आचरण करने योग्य सत्य नियम को (अशकम्) जिस प्रकार मैं करने को समर्थ हुआ हूँ (अचारिषम्) अर्थात् उसका आचरण अच्छी प्रकार कर सका हूं, वैसा मुझ को दीजिये। जो मैंने उत्तम वा अधम कर्म किया है (तदेवाहम्) उसी को भोगता हूँ, अव भी जो (इदम्) मैं सा कर्म करने वाला (अस्मि) हूँ, वैसे कर्म के फल भोगने वाला (अस्मि) होता हूँ।" ऋषि दयानन्द का भाषार्थः। जो व्रत पर आचरण की प्रतिज्ञा यजु० १.५ मन्त्र द्वारा की गई थी, उसी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति इस यजु० २.२८ मन्त्र द्वारा प्रतिपादित की गई है। प्रतिज्ञा आरम्भ में भविष्य कालिक क्रियाओं रूप था और व्रत की समाप्ति पर भूतकालिक क्रियाओं का रूप इस यजु० २.२८ में उपदिष्ट किया गया है। ऋषि दयानन्द ने वेद के उपदेश आर्य प्रणाली के अनुसार ही स्वमन्तव्यामन्तव्य की समाप्ति सूचक इस नियम का निर्वाह किया है। तथा इसी नियम को ऋषि दयानन्द ने अपने एक विज्ञापन में भी स्वीकार किया है अर्थात् विज्ञापन के अन्त में भी यही स्वमन्तव्यामन्तव्य का पाठ लिखा है, देखें–"ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन" श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० द्वारा सम्पादित-विज्ञान संख्या ५, पूर्ण संख्या १०, पृष्ठ संख्या २२।

समाप्त

स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश के विविध संस्करण और अनुवाद

(संकलन कर्त्ता–डा० भवानीलाल भारतीय, एम० ए० पी० एच० डी०)

१. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश–वैदिक यंत्रालय, अजमेर से प्रकाशित ।
२. ,, सार्वदेशिक, प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित ।
३. ,, सम्पादक–जगत्कुमार शास्त्री–गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली ।
४. ,, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर ।
५. दयानन्द के दिव्य विचार–सम्पादक किशोरीलाल गोस्वामी, गोविन्द ब्रादर्स, अलीगढ़ १९३४ ई०
६. वैदिक धर्माचार्य दयानन्द सरस्वती प्रतिपादित आदेश–(मराठी अनुवाद अनुवादक अमृतलाल क० पटेल, आर्यसमाज काकड़ वाड़ी बम्बई ४ से १९५५ में प्रकाशित ।
७. हरयाणा प्रान्तीय आर्य महासम्मेलन–दयानन्द मठ, रोहतक–द्वारा प्रकाशित (स्वागत मन्त्री महाशय –भरतसिंह)
८. The Beliefs of Swami Dayanand Saraswati. Vedic Press Ajmer. 1897 & 1919.
,, ,, Star Book Depot. Allahabad.

———

ओ३म्
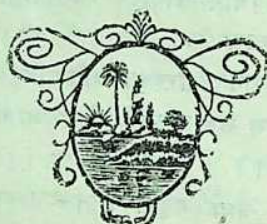
आर्योद्देश्यरत्नमाला

(ईश्वरादितत्त्वलक्षणप्रकाशिका-आर्य भाषाप्रकाशोज्वला)

१. ईश्वर—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय[1] सर्व शक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्य गुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म[2] जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पापपुण्य के फल ठीक-ठीक पहुंचाना है उसको ईश्वर कहते हैं।

२. धर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों[3] से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है उस को धर्म कहते हैं।

३. अधर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़ कर और

टि०—(१) "दो का होना वा दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत इससे जो रहित हैं, सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि, स्वागत अर्थात् शरीर में जैसे आंख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है इससे परमात्मा का नाम अद्वैत है॥"—सत्यार्थप्रकाश—प्रथम-समुल्लास॥ "स एष एक एकवृदेक एव॥" अथर्व, १३, अनु, ८, मन्त्र २० अर्थात् ईश्वर एक ही है॥ (२) "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥" श्वेता० ६.८ अर्थात् ईश्वर में कर्म स्वाभाविक है। ईश्वर के कर्म का फल सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है, ईश्वर में कोई इच्छा नहीं, अतः उसके कर्म का फल केवल सृष्टि रचना आदि ही है॥ (३) प्रमाणों के लक्षण

पक्षपात सहित अन्यायी होके बिना परीक्षा करके अपना ही हित करना है जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोष युक्त होने के कारण वेदविद्यासे विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है वह अधर्म कहाता है।

४. पुण्य—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान सत्य भाषणादि सत्याचार का करना है उसको पुण्य कहते हैं।

५. पाप—जो पुण्य से उलटा और मिथ्या भाषण आदि करना है उसको पाप कहते हैं।

६. सत्यभाषण—जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोले उसको सत्यभाषण कहते हैं।

७. मिथ्याभाषण—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है उसको मिथ्या भाषण कहते हैं।

८. विश्वास—जिसका मूल[४] अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो उसका नाम विश्वास है।

९. अविश्वास—जो विश्वास से उलटा है जिसका तत्त्व[५] अर्थ न हो वह अविश्वास कहाता है।

१०. परलोक—जिसमें सत्य विद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो और इस प्राप्ति से इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होता है उसको परलोक[६] कहते हैं।

११. अपरलोक—जो परलोक से उलटा है जिसमें दुःख विशेष भोगना होता है वह अपरलोक[७] कहाता है।

आगे किये गये हैं—वहीं देखने चाहिये ॥ (४+५) मूल का भाव यहाँ तत्त्व से है, जैसा कि अगले "अविश्वास के लक्षण में जिसका तत्त्व अर्थ न हो वह अविश्वास और जिसका तत्व अर्थ है मूल कहाता है ॥ (६+७) परलोक और अपर लोक से अभिप्राय किसी प्राकृतिक भूलोक से नहीं है—यहाँ लोक का अर्थ दर्शन, सम्यक् ज्ञान है और अपर लोक का अर्थ मिथ्या ज्ञान है। इसी कारण मिथ्या-ज्ञान से दुःख रूप फल का भोग जीव को होता है और शुद्ध

१२. जन्म—जिनमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है उसको जन्म कहते हैं।

१३. मरण—जिस शरीर की प्राप्ति होकर जीव क्रिया करता है उस शरीर और जीव का किसी काल में वियोग हो जाता है उसको मरण कहते हैं।

१४. स्वर्ग—जो विशेष सुख[१] और सुख की सामग्री को प्राप्त होता है वह स्वर्ग कहाता है।

१५ नरक—जो विशेष दुःख[२] और दुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है उसको नरक कहते हैं।

१६. विद्या—जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है उसका नाम विद्या है।

१७. अविद्या—जो विद्या से विपरीत है भ्रम[३], अन्धकार[४] और अज्ञान[५] रूप है उसको अविद्या कहते हैं।

१८. सत्पुरुष—जो सत्यप्रिय धर्मात्मा सिद्धान्त् सबके हितकारी और महाशय[६] होते हैं वे सत्पुरुष कहाते हैं।

तत्वज्ञान से सुख रूप फल का भोग जीव करता है। परलोक=शुद्ध ज्ञान और अपर लोक मिथ्या ज्ञान है॥

(१) अभ्युदय=चक्रवर्ती राज्य पर्यन्त तक का "सुखविशेष" सुख है। यह लौकिक ही है, परन्तु सामान्य सुख से विशिष्ट है॥ (२) विशेष दुःख का अभिप्राय भी साधारण दुःख से बढ़कर आत्मा के घोर पतन से उत्पन्न होने वाले दुःख का है। यह भी लौकिक दुःख की चरम सीमा है॥ (३+४+५) भ्रम, अन्धकार और अज्ञान ये तीनों ही अविद्या के भेद हैं। भ्रम में सूखे वृक्ष के ठंठ को मनुष्य समझ लेना, दूर से नदी के बालू रेत को सूखते हुए वस्त्र समझना भ्रम-भ्रान्ति कहलाता है। अन्धकार का भाव यह है कि बुद्धि के अशुद्ध होने पर किसी पदार्थ के स्वरूप का निश्चय न कर सकना। तथा अज्ञान का भाव यह है ज्ञान न रह जाना अर्थात् अनित्य को नित्य समझना और नित्य को अनित्य जानना। ये तीनों ही अविद्या मूल के आंशिक भेद हैं॥ (६) महाशय का अभिप्राय यह

१९. सत्सङ्गकुसङ्ग—जिस करके झूठ छूट के सत्य की ही प्रतिति होती है उसको सत्सङ्ग और जिस करके पापों में जीव फंसे उसको कुसङ्ग कहते हैं।

२०. तीर्थ—जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रयतादि उत्तम कर्म हैं वे सब तीर्थ[7] कहाते हैं क्योंकि इन करके जीव दुःख सागर से तर[8] जा सकते हैं।

२१. स्तुति—जो ईश्वर या किसी दूसरे पदार्थ के गुण, ज्ञान, कथन, श्रवण और सत्य भाषण करना है वह स्तुति[9] कहाती है।

२२. स्तुति का फल—जो गुण ज्ञान आदि के करने से गुण वाले पदार्थों में प्रीति होती है वह स्तुति का फल[10] कहाता है।

२३. निन्दा—जो मिथ्या ज्ञान मिथ्या भाषण झूठ में आग्रह आदि किया है जिससे कि गुण छोड़ कर उनके स्थान में अपगुण लगाना होता है वह निन्दा कहाती है।

२४. प्रार्थना—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को प्रार्थना कहते हैं।

२५. प्रार्थना का फल—अभिमान का नाश आत्मा में आर्द्रता,[11]

है कि जिस सज्जन का आशय भाव—वृत्ति लोकोपकारी होती है—वह महाशय कहलाता है॥ (७+८) तीर्थ का अर्थ जल स्थल आदि के विशेष स्थान नहीं, किन्तु उन श्रेष्ठ कर्मों का नाम तीर्थ है जिन पर आचरण करने से मनुष्य दुःखरूप सागर से पार उतर कर उत्तम सुख को प्राप्त कर सकता है॥ (९) स्तुति का अभिप्राय यह है कि गुणों को गुण कहना और मानना तथा दोषों को दोष समझना और कहना स्तुति ईश्वर की भी की जाती है और मनुष्य की भी॥ (१०) जिस रूप में मनुष्य स्तुति करता है उस प्रकार का अभाव उसके आत्मा और मन पर पड़ता है—यही फल समझना चाहिये॥ (११) आर्द्रता का अर्थ स्नेह है अर्थात् प्रीति का होना और स्वभाव में

गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना प्रार्थना का फल है।

२६. उपासना—जिससे ईश्वर[१२] ही के आनन्द स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है उसको उपासना कहते हैं।

२७. निर्गुणोपासना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग हलका, भारी, अविद्या, जन्म, मरण, और दुःखादि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है उसको निर्गुणोंपासना कहते हैं।

२८. सगुणोपासना—जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य[१] आनन्द,[२] सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी सर्वनियन्ता, सर्वान्तिर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जान के जो ईश्वर की उपासना करनी है सो सगुणोपासना कहाती है।

२९. मुक्ति—अर्थात् जिससे सब[३] बुरे काम और जन्म मरणादि दुःखसागर से छूटकर सुख[४]रूप परमेश्वर को प्राप्त हो के सुख ही[५] में रहना है वह मुक्ति कहाती है।

कोमलता होना ।। (१२) उपासना केवल ईश्वर की ही की जाती है, अन्य मनुष्य अपना जड़ मूर्त्ति आदि की नहीं। स्तुति और प्रार्थना ईश्वर के अतिरिक्त मनुष्य की जा सकती है, परन्तु उपासना ईश्वर की ही की जाती है, क्योंकि उपासना से ईश्वर की प्राप्ति होती है ।।

(१) नित्य पद पृथक् है अर्थात् जो तीनों कालों में एक समान बना रहता है, जिसकी न उत्पत्ति और न विनाश होता है। (२) आनन्द का अभिप्राय है आनन्द स्वरूप। "स्वर्यस्य च केवलम्"-अथर्व० १०-८-१ अर्थात् केवल आनन्द =सुख स्वरूप ही है। (३) मुक्ति को प्राप्त करने से पूर्व 'सब दुष्ट कर्म' छूट जाते हैं, सम्पूर्ण कर्मों का नाश नहीं। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" मुण्डक उप० २.२.८ का ९ वम समुल्लास में अर्थ यह किया है—"सब दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते।" (४) सुख स्वरूप का अभिप्राय आन्द-स्वरूप, परमेश्वर में सांसारिक सुख नहीं, किन्तु नित्य रूप से वह आनन्द स्वरूप है। (५) मुक्ति

३०. मुक्ति के साधन—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म[६] का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थसेवन,[७] सत्पुरुषों का संग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट[८] कर्मों से अलग रहना ये सब मुक्ति के साधन कहाते हैं।

३१. कर्त्ता—जो स्वतन्त्रता[९] से कर्मों का करने वाला है अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं वह कर्त्ता कहाता है।

३२. कारण—जिनको ग्रहण करके करने वाला किसी कार्य व चीज को बना सकता है अर्थात् जिसके बिना कोई चीज बन नहीं सकती वह कारण कहाता है सीन तीन[१०] प्रकार का है।

३३. उपादान—जिस को ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे व कुछ बनाया जाय जैसा कि मिट्टी से घड़ा बनता है उसको उपादान[११] कारण कहते हैं।

को प्राप्त होने पर केवल सुख में ही जीवात्मा रहते हैं। मुक्ति के काल में दुःख नहीं आता, यह ही बात स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश की टिप्पणी में लिखी जा चुकी है। मुक्ति का साधन केवल ज्ञान नहीं है, अपितु ज्ञान और कर्म दोनों हैं। (६) "पवित्रकर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति होती है–" ९ वां समुल्लास। (७) ऊपर २० वीं माला में लिख चुके हैं कि उत्तम कर्म का नाम तीर्थ है, अतः तीर्थ सेवन का भाव यह है कि उत्तम कर्म किये जावें। (८) यहां भी वही भाव है कि मुक्ति के लिये मुमुक्षु को सब दुष्ट कर्म छोड़ कर श्रेष्ठ कर्म अवश्य करते रहना चाहिये। (९) जीव अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है, चाहे जैसे अर्थात् असम्भव कर्म नहीं कर सकता। (१०) निमित्त, उपादन और साधारण-ये तीन कारण, कार्य मात्र के प्रति कारण होते हैं। (११) उपादान कारण वह है कि जिस जड़ कारण को लेकर कर्त्ता कार्य को करता है और वह जड़ उपादान कारण कार्य में बना रहता है, जैसे मिट्टी उपादान कारण से घड़ा कार्य बना, तो मिट्टी भी कार्य में बनी रहेगी, कार्य नष्ट होने पर भी मिट्टी बनी रहती है अर्थात् कार्य के नाश होने पर कारण का नाश नहीं होता। कारण के नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, परन्तु

३४. निमित्त कारण—जो बनाने वाला है जैसा कुम्हार घड़े को बनाता है इस प्रकार के पदार्थों[१२] को निमित्त कारण कहते हैं।

३५. साधारण कारण—जैसे कि दण्ड आदि और दिशा, तथा प्रकाश हैं, इनको साधारण[१३]कारण कहते हैं।

३६. कार्य—जो किसी पदार्थ के संयोग विशेष से स्थूल हो के काम में आता है अर्थात् जो करने के योग्य है वह उस कारण[१४]का कार्य कहाता है।

३७. सृष्टि—जो कर्त्ता की रचना[१] से कारण-द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार योग्य होती है वह सृष्टि कहाती है।

३८. जाति—जो जन्म से ले के मरण पर्यन्त बनी रहे, जो अनेक

प्रकृति रूप उपादान कारण सृष्टि में बना रहता है। जब सृष्टि का प्रलय हो जाता है, तब भी प्रकृति अपने मूल रूप में बनी रहती है। प्रकृति नित्य है अतः उसका नाश नहीं होता। (१२) पदार्थों के बनाने वाले कर्त्ता को निमित्त कारण कहते हैं। कार्य बिगड़ने पर भी निमित्त कारण की कुछ हानि नहीं। (१३) साधारण कारण वह कहाता है कि जो कार्य को बनाने में निमित्त कारण के समान साधारण रूप में होता है। दिशा, काल और आकाश कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण कहलाते हैं, अर्थात् कार्य बनने से पूर्व उक्त तीनों कारण साधारण रूप से अवश्य रहते हैं और सभी कार्यों के प्रति ये साधारण कारण रहते हैं। (१४) जो जड़ कारण से बने, अर्थात् कार्य से पूर्व उसका कारण अवश्य होता है और जिसमें बनने का सामर्थ्य हो। परन्तु कार्य अनित्य नाशवाला पदार्थ होता है। कार्य में उपादान कारण बना रहता है।

(१) सृष्टि रचना दो प्रकार की होती है एक "रचनाविशेष" जिसको ईश्वर ही कर सकता है और वही कर सकता है जैसे प्रलयकाल के पश्चात् पुनः संसार की रचना। इस रचना विशेष को जीव नहीं कर सकता, क्योंकि वह अल्पसामर्थ्य है। दूसरी रचना जीव भी करता रहता है। जैसे ईश्वर के रचे हुये

व्यक्तियों में एक रूप[२] प्राप्त हो, ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं वे जाति[३] शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

३९. मनुष्य—अर्थात् जो विचार के बिना किसी काम को न करे उसका नाम मनुष्य है।

४०. आर्य्य—जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्यादि गुण युक्त और आर्य्यावर्त्त देश में सब दिन[४] से रहने वाले हैं उनको आर्य्य कहते हैं।

४१. आर्य्यावर्त्त देश—हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्र नदी इन चारों के बीच और जहां तक इनका विस्तार है उन के मध्य में जो देश है उसका नाम आर्य्यावर्त्त देश है।

४२. दस्यु—अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी आर्य्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक जो कि दुष्ट मनुष्य है वह दस्यु[५] कहाता है।

४३. वर्ण– जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण[६] किया जाता है वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।

पदार्थों को लेकर जीव नये-नये पदार्थों का निर्माण करता रहता है। ईश्वरीय रचना के बिना जीव को अपनी रचना के लिये पदार्थ ही नहीं मिल सकते। (२) जैसे गौओं में 'गोत्व' एक समान है मनुष्यों में "मनुष्यत्व" एक है। व्यक्ति बहुत हैं, परन्तु उनमें रहने वाला जातिपदार्थ एक ही होता है। (३) ईश्वर ने जो भिन्न अनेक पदार्थ बनाये हैं, वे जाति नाम से कहे जाते हैं, जैसे मनुष्य, जाति, वृक्ष जाति आदि। (४) इसकी टिप्पणी स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में दी चुकी है, अर्थात् किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति है, परन्तु वह सदा से उसी राष्ट्र में रहता है अर्थात् वह आर्य्यावर्त्त में परम्परा से रहता आया है, तो वह भी आर्य कहलावेगा। (५) दुष्ट स्वभाव के मनुष्य को दस्यु कहा जाता है। आर्य और दस्यु दो भिन्न-भिन्न जाति नहीं हैं। मनुष्य जाति सबकी एक हैं। श्रेष्ठ कर्म करने वाले आर्य और दुष्ट कर्म करने वाले दस्यु कहलाते है, चाहे दोनों सहोदर भाई क्यों न हों। (६) ग्रहण का अर्थ "स्वीकार" किया जाना है।

४४. वर्ण के भेद—जो ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रादि[७] हैं वे वर्ण कहाते हैं।

४५. आश्रम—जिनमें अत्यन्त परिश्रम[८] करके उत्तम गुणों को ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायं उनको आश्रम कहते हैं।

४६. आश्रम के भेद—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिये ब्रह्मचारी जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहाश्रम, जो विचार[९] के लिये वानप्रस्थ और जो सर्वोपकार करने के लिये संन्यासाश्रम होता है वे चार आश्रम कहाते हैं।

४७. यज्ञ—जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध[१०] पर्यन्त व जो शिल्प[११] व्यवहार और पदार्थ विज्ञान[१२] जो कि जगत् के उपकार[१३] के लिए किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं।

४८—कर्म—जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष

---

(७) शूद्रादि का अभिप्राय तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को छोड़कर चौथा वर्ण शूद्र है, परन्तु जो चौथे वर्ण के योग्य भी न हों, वह आदि पद से कहे जाते हैं, उसकी गणना शूद्र के साथ की जा सकती है, क्योंकि वह शूद्रों के साथ रहकर उनके अनुसार गुण कर्म स्वभाव वना लेता है। (८) आश्रम में 'श्रम' शब्द से सिद्ध होता है कि चारों आश्रमों में पूर्ण परिश्रम करना पड़ता है तब ही वह आश्रम प्राप्त हो सकता है। केवल प्रवेश करने से ही आश्रम धारण नहीं किया जा सकता। (९) विशेष रूप से ईश्वरोपासना तथा वेद और आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय करना। (१०) चक्रवर्ती राज्यकी प्राप्ति से पूर्व अश्वमेध यज्ञ करना पड़ता है, लौकिक दृष्टि से यह सब से अन्तिम और बड़ा यज्ञ है। (११) शिल्प से अभिप्राय सब प्रकार के यान विमान आदि का निर्माण कारीगरी से है। (१२) पदार्थ विज्ञान का अर्थ सब पदार्थों के मूल तत्त्वों के ज्ञान के लिये खोज करना है। उपकार का भाव यह है कि संसार के समस्त प्राणियों के हित के लिये कार्य करना उपकार कहा जाता है।

(१) योग दर्शन १.२४ के अनुसार कर्म इष्ट, अनिष्ट और मिश्र भेद से

करता है वह कर्म कहाता है शुभ, अशुभ और भिन्न भेद से तीन[1] प्रकार का है ॥

४९—क्रियमाण—जो वर्त्तमान में किया जाता है वह क्रियमाण कर्म कहाता है ॥

५०—सञ्चित—जो क्रियमाण का संस्कार[2] ज्ञान में जमा होता है उसको सञ्चित संस्कार कहते हैं ॥

५१—प्रारब्ध—जो पूर्व[3] किये हुए कर्मों के सुख-दुःख रूप फल का भोग[4] किया जाता है उसको प्रारब्ध कहते हैं ॥

५२—अनादि पदार्थ—जो ईश्वर, जीव और सब जगत् का कारण[5] है ये तीन स्वरूप[6] से अनादि हैं ॥

५३—प्रवाह से अनादि पदार्थ—जो कार्य जगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग वियोग है ये तीन परम्परा[7] से अनादि हैं ॥

तीन प्रकार के सत्यार्थप्रकाश ७ म समुल्लास में लिखे हैं ॥ (२) वर्तमानकाल में जो कर्म किया जाता है, उसका 'संस्कार' जो जीव के ज्ञान में जमा रहता है उसको संचित कहते हैं, यह कर्म का रूप नहीं; अपितु कर्म का ज्ञान रूप परिणाम है । इसलिये इसको संस्कार कहा गया हैं—कर्म नहीं ॥ (३) "पूर्व" शब्द का अभिप्राय पूर्वजन्म में किये गये कर्मों तथा वर्तमानजन्म में भी पहिले किये गये कर्मों का भोग जो कि सुख अथवा दुःख रूप फल है, उसी को प्रारब्ध कहते हैं ॥ (४) फल का भोग केवल सुख अथवा दुःख ही होता है । इसी को प्रारब्ध कहते हैं ॥ (५) "सब जगत् का कारण" से अभिप्राय प्रकृति से है, क्यों तीनों कारणों में ईश्वर और जीव इसी जगह बतला दिये हैं, शेष रहा प्रकृति । अतः इस कारण से प्रकृति का ग्रहण होता है । ये तीनों कारण स्वरूप से ही अनादि हैं ॥ (६) "स्वरूप" का अर्थ है स्वभाव से अनादि, न कि प्रवाह से अनादि ॥ (७) प्रवाह से अनादि उसको कहते है जो कि सदा नहीं रहता है, परन्तु उसकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु यह प्रवाह=परम्परा=सिलसिला कभी नहीं रुकता । जैसे दिन और रात्रि का सिलसला सदा रहता है । ऐसे ही सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का

५४—अनादि का स्वरूप—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो जिसका कारण कोई भी न हो वे अर्थात् जो सदा से स्वयंसिद्ध[८] हो वह अनादि कहाता है ॥

५५—पुरुषार्थ—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है उसको पुरुषार्थ कहते हैं ॥

५६—पुरुषार्थ के भेद—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त का अच्छे प्रकार रक्षण, करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्य विद्या की उन्नति में तथा सब के हित करने में खर्च करना है इन चार प्रकार के कर्मों को पुरुषार्थ कहते हैं ॥

५७—परोपकार—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिये जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है वह परोपकार कहाता है ।

५८—शिष्टाचार—जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है वह शिष्टाचार कहाता है ॥

५९—सदाचार—जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है उसको सदाचार कहते हैं ॥

६०—विद्यापुस्तक—जो ईश्वरोक्त सनातन सत्य विद्यामय चार वेद हैं उनको विद्या पुस्तक कहते हैं ॥

६१—आचार्य—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे उस को आचार्य कहते हैं ॥

सिलसला कभी नहीं टूटता ॥ (८) स्वयंसिद्ध उसको कहते हैं कि जिसका बनाने वाला कोई कारण नहीं होता और स्वभाव=स्वरूप से ही सदा बना रहता है ॥

६२—गुरु—जो वीर्यदान[१] से लेके भोजनादि कराके पालन करता है इससे पिता को गुरु कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे उसको भी गुरु अर्थात् आचार्य कहते हैं॥

६३—अतिथि—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तर के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है उसको अतिथि कहते हैं॥

६४—पञ्चायतनपूजा—जीते माता, पिता, आचार्य अतिथि और परमेश्वर को जो यथा योग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है उसको पञ्चायतन[२] पूजा कहते हैं॥

६५—पूजा—जो ज्ञानादि गुण वाले का यथायोग्य सत्कार करना है उसको पूजा कहते हैं॥

६६—अपूजा—जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ और जो सत्कार के योग्य नहीं है उसका जो सत्कार करना है वह अपूजा कहाती हैं॥

६७—जड़—जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है उसको जड़ कहते हैं॥

६८—चेतन—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है उसको चेतन[३] कहते हैं॥

६९—भावना—जो जैसी चीज़ हो उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रम[४] रहित हो अर्थात् जैसे को वैसा

(१) वीर्यदान का अभिप्राय गर्भाधान संस्कार से है॥ (२) "पञ्चायतन" का भाव यह है कि ये पांच पदार्थ पूजा=सत्कार के स्थान हैं। इनमें ईश्वर की उपासना को पूजा कहा जाता है और माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा को पूजा कहते हैं॥ (३) चेतन का अर्थ यह है कि जिसमें स्वभाव से ज्ञान और क्रिया रहे। चेतन शब्द से ईश्वर और जीव दोनों को ग्रहण होता है। जीव में ज्ञान और क्रिया सीमित रूप में हैं और ईश्वर में असीमित हैं। ईश्वर में क्रिया होने से ही सृष्टि की रचना विशेष को वह करता है॥ (४) भ्रमरहित का अर्थ है यथार्थ, जिसमें किसी प्रकार का संशय, अज्ञान

ही समझ लेना उस को भावना कहते हैं ॥

७०—अभावना—जो भावना से उलटी हो अर्थात् मिथ्याज्ञान से अन्य निश्चय मान लेना है जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेना है उस को अभावना कहते हैं ॥

७१—पण्डित—जो सत् असत् को विवेक[५] से जानने वाला धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका, हितकारी है उसको पण्डित कहते हैं ॥

७२—मूर्ख—जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है उसको मूर्ख कहते हैं ॥

७३—ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार—जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है उसको ज्येष्ठकनिष्ठ व्यवहार कहते हैं ॥

७४—सर्वहित—जो तन, मन और धन से सब के सुख बढ़ाने में उद्योग करना है उसको सर्वहित कहते हैं ॥

७५—चोरी त्याग—जो स्वामी की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ का ग्रहण करना है वह चोरी और छोड़ना त्याग कहाता है ॥

७६—व्यभिचार त्याग-जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल[१] के बिना वीर्य दान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के बिना विवाह करना है वह व्यभिचार कहाता है उस को छोड़ देने का नाम व्यभिचार त्याग है ॥

७७—जीव का स्परूप—जो चेतन[२], अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य है वह जीव कहाता है ॥

और भ्रान्ति न होवे ॥ (५) विवेक का भाव यह है कि "पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जान कर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहाता है।" —सत्यार्थप्रकाश का ९ वां समुल्लास ॥

(१) गर्भाधान के समय को ऋतुकाल कहा गया है, इसको जानने के लिये संस्कारविधि ग्रन्थ में गर्भाधान संस्कार देखना चाहिये ॥ (२) चेतन

७८—स्वभाव—जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है जैसे कि अग्नि में रूप और दाह अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता इसलिये इस को स्वभाव कहते हैं ॥

७९—प्रलय—जो कार्य जगत् का कारण रूप होना अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन-जिन कारणों[3] से सृष्टि बनाता है कि अनेक कार्यों को रच के यथावत् पालन करके पुनः कारण रूप करके रखता है उसका नाम प्रलय है ॥

८०—मायावी—जो छल-कपट स्वार्थ में प्रसन्नता, दम्भ,[4] अहङ्कार, शठतादि दोष हैं और जो मनुष्य इनसे युक्त हो, वह मायावी कहलाता है ॥

८१—आप्त—जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपा दृष्टि से वर्त्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्या रूप सूर्य्य का प्रकाश सदा करे उस को आप्त[5] कहते हैं ॥

८२—परीक्षा—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टि[6] क्रम से अनुकूल विचार के सत्यासत्य का यथावत्

का अर्थ है जिसमें ज्ञान और क्रिया करने का धर्म स्वभाव से होवे । जीव में यह दोनों धर्म सीमित हैं, परन्तु ईश्वर में ये दोनों धर्म अनन्त हैं । "जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता, इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है ॥ "सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास ॥ (३) कारणों का अभिप्राय यही है कि प्रकृति-परमाणु रूप नित्य द्रव्यों से सृष्टि ईश्वर बनाता है, स्थिति के समय उन कारणों सहित जगत् कार्य रूप में रहता है, प्रलय के समय उन कारणों का कार्य नष्ट होकर कारण रूप ही बना रहता है ॥ (४) दम्भ कहते हैं कि जिस बात को जाने नहीं और जानने का ढकोसला, कपट, आडम्बर दिखावा करे ॥ (५) आप्त का अर्थ पहिले लिख चुके हैं अर्थात् सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी होकर लोक कल्याण के लिये वेदार्थानुकूल उपदेश करने वाला विद्वान् ॥ (६) सृष्टि क्रम का अर्थ है सृष्टि में देखा जाने वाला सत्य नियम, "जैसे कोई

निश्चय करना है उसको परीक्षा कहते हैं ॥

८३=आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है ॥

८४—लक्षण—जिससे जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है, जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, इसको लक्षण कहते हैं ॥

८५—प्रमेय—जो प्रमाणों से जाना जाता है, जैसे कि आंख का प्रमेय रूप अर्थ है जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको प्रमेय[७] कहते हैं ॥

८६—प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रियों और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है; उस को प्रत्यक्ष[१] कहते हैं ॥

८७—अनुमान—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के अंग को प्रत्यक्ष देख के पश्चात् उसके अदृष्ट अङ्गों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है; उसको अनुमान्[२] कहते हैं ॥

८८—उपमान—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नील गाय होती है, ऐसे उपमा से जो सादृश्य[३] ज्ञान होता है; उसको उपमान कहते हैं ॥

कहे कि बिना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ ऐसा कथन सृष्टि क्रम से विरुद्ध होने से असत्य है" सत्यार्थप्रकाश ३ समुल्लास ॥ (७) जिस पदार्थ की जांच की जावे, उसको "प्रमेय" कहते हैं, जिस साधन के द्वारा प्रमेय की जांच की जावे, वह "प्रमाण" कहाता है, जो जांच करने वाला चेतन होता है उसको "प्रमाता" कहते हैं और जांच का जो परिणाम=फल होता है उसको "प्रमिति" कहा जाता है। सम्पूर्ण अर्थ तत्त्व इन चार भागों में पूर्ण हो जाता है ॥

(१) "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" । न्यायदर्शन० १-१-४ । (२) "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च" । न्या० १-१-५ । (३) "प्रसिद्धसाधर्म्यात्सा-

८९—शब्द—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और आप्त मनुष्य का उपदेश है; उसी को शब्द[४] प्रमाण प्रमाण कहते हैं ॥

९०—ऐतिह्य—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव और झूठ लेख न हो; उसी को ऐतिह्य[५] (इतिहास) कहते हैं ॥

९१—अर्थापत्ति–जो एक बात के कहने से दूसरी बिना कहे समझी जाय; उसको अर्थापत्ति[६] कहते हैं ॥

९२—सम्भव—जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो; वह सम्भव[७] कहाता है ॥

९३—अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ, उसने वहाँ देखा कि यहां जल नहीं है, परन्तु जहाँ जल है वहां से ले आना चाहिये; उसे अभाव[८] प्रमाण कहते हैं ॥

घ्यसाधनमुपमानम्" । न्या० १-१-६ । (४)"आप्तोपदेश: शब्द:"न्या० १-१-७। (५-६-७-८) । न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् । न्या० २-२-१। इन आठों प्रमाणों की व्यख्या सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में देखनी चाहिये, न्यायदर्शन में—"शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति-संभवाभावानर्थान्तरभावाच्चप्रतिषेध: । २-२-२,अर्थात् ऐतिह्यप्रमाण का अन्तरभाव शब्द प्रमाण में, अर्थापत्ति, संभव और अभाव का अन्तरभाव अनुमान प्रमाण में कर देने से भी इन चारों प्रमाणों का निषेध नहीं हो सकता । अर्थात् कुल आठ प्रमाण हैं । परन्तु कुछ दार्शनिक एक प्रकार से ४ प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द मानते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है कि ऐतिह्य प्रमाण की गणना शब्द में कर लेते हैं क्योंकि ऐतिह्य=इतिहास भी शब्द-प्रमाण रूप ही है । इस प्रकार अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना अनुमान में कर लेते हैं, क्योंकि इन तीनों में अनुमान का भाग मिला रहता है। कुछ सज्जन उपमान प्रमाण का अन्तरभाव अनुमान में करके तीन ही प्रमाण मानते हैं । और कुछ लोग अनुमान को भी प्रत्यक्ष में मिलाकर दो ही प्रमाण प्रत्यक्ष और शब्द ही मानते हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते वे प्रत्यक्ष को ही एक प्रमाण मानते हैं अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान दो को ही । परन्तु ऋषि दयानन्द

९४—शास्त्र—जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिसे करके मनुष्यों को सत्य सत्य शिक्षा हो; उसको शास्त्र[९] कहते हैं ॥

९५—वेद—जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्य[१०] सत्य का ज्ञान होता है; उनको वेद कहते हैं ॥

९६—पुराण—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्रह्मणादि[१] ऋषिमुनिकृत सत्यार्थ पुस्तक हैं; उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं ॥

९७—उपवेद—जो आयुर्वेद-वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद-शास्त्रविद्या, राज-धर्म, जो गन्धर्ववेद-गान शास्त्र और अर्थवेद जो शिल्पशास्त्र हैं; इन चारों[२] को उपवेद कहते हैं ॥

९८—वेदाङ्ग—जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आर्ष[३] सनातन शास्त्र हैं; उनको वेदाङ्ग कहते हैं।

ने ८ प्रमाण स्वीकार किये हैं, क्योंकि थोड़ा साम्य होने पर भी लोक व्यवहार के लिये भिन्नता होने पर प्रमाण आठों मानने होंगे। चार प्रमाणों से कम प्रमाण नहीं हैं। इसका विस्तार सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में देखना चाहिये। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यह प्रकरण दिया गया है। (९) शास्त्र शब्द से सत्याविद्याओं के मूल चारों वेदमन्त्रसंहिताएं और वेदानुकूल ऋषियों के बनाये आर्षग्रन्थ भी शास्त्र नाम से कहे जाते हैं। (१०) वेद की व्याख्या स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में की जा चुकी है। वहां "सत्या-सत्य" का भाव यह है कि वेद से जहां यह ज्ञान होता है कि यह सत्य है वहां यह भी ज्ञान होता है कि यह असत्य है। जैसे दीपक से अदृष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही यह भी ज्ञान हो जाता है कि अमुक पदार्थ यहाँ नहीं है। भाव और अभाव दोनों का बोध निश्चय रूप में वेद से ही होता है। (१) ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की व्याख्या स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में की जा चुकी है। (२) प्रत्येक उपवेद में अनेक ग्रन्थ हैं, किसी एक ही ग्रन्थ का नाम उपवेद नहीं है। (३) आर्ष का अभिप्राय यह है कि जो ग्रन्थ ऋषियों ने वेदानुकूल बनाये हैं उनको आर्ष ग्रन्थ कहा जाता है। वेदाङ्गों में भी प्रत्येक अंग में अनेक

९९—उपाङ्ग—जो ऋषि मुनिकृत-मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं; उनको उपाङ्ग[४] कहते हैं ॥

१००—नमस्ते—मैं तुम्हारा मान्य[५] करता हूँ ॥

वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
नमस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्त्तिभगादियम् ॥

श्रीयुत महाराजा विक्रमादित्य जी १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्ल पक्ष सप्तमी बुधवार के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्य्योद्देश्यमाला—पुस्तक प्रकाशित किया ॥

ग्रन्थ हैं। (४) उपाङ्गों में एक-एक ही ग्रन्थ दर्शन अथवा शास्त्र नाम से कहा जाता है। (५) 'नमस्ते" शब्द वेदों, शास्त्रों तथा समस्त संस्कृत साहित्य में मिलता है। छोटा बड़े को बड़ा छोटे को,बराबर वाले परस्पर,पति को पत्नी और पत्नी को पति 'नमस्ते' शब्द से आदर देते हैं। 'नमः' शब्द को न लिख कर हम केवल 'नमस्ते' शब्द जहाँ आया है, वे ही कुछ मन्त्रांश लिखते हैं॥ 'नमस्ते'—यजु० ३-३३-८ 'नमस्ते आयुधाय' ॥ यजु० १६-१४ 'नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः।', यजुः० १६-१ 'नमस्ते भगवन्नस्तु'॥ यजु० ३६-२१ 'नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ यजु० ३७-२० तथा ३८-१६ 'भगवन् शब्द से ईश्वर और ऐश्वर्य शाली जीव का भी ग्रहण होता है जैसे—'भग एव भगवान अस्तु'—यहां 'भगवान्' ईश्वर का वाचक है तथा 'वयं भगवन्तः स्याम'=यहां भगवन्तः से जीवों का ग्रहण है। दोनों का प्रमाण: ऋ० ७-४१-५ में एक ही जगह मिलता। इस मन्त्र को ऋषि दयानन्द ने गृहस्थाश्रम प्रकरण में प्रातः-काल में बोले जाने वाले मन्त्रों में दिया है, वहीं अर्थ भी दिये गये हैं।

—०—

आर्योद्देश्यरत्नमाला :—विभिन्न संस्करण और अनुवाद

(डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पी० एच० डी० पाली-राजस्थान)

आर्यों के १०० मन्तव्यों का संग्रह महर्षि दयानन्द ने श्रावण शुक्ला सप्तमी बुधवार सं १९३४ वि० को तैयार किया, जैसा कि ग्रन्थान्त की पुष्पिका से ज्ञात होता है। ग्रन्थान्त में स्वामी जी लिखते हैं—

वेदरामाङ्कचन्द्रेब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम् ॥

इस लघु किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ के अब तक निम्न संस्करण और अनुवाद छप चुके हैं—

१. वैदिक यंत्रालय, अजमेर। २. आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर। ३. सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली। ४. गोविन्द आदर्श, अलीगढ़। ५. आर्य पुस्तकालय, आगरा। ६. रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर। ७. सम्पा० जगत्कुमार शास्त्री गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली। ८. कुम्भ प्रचार संस्करण परोपकारिणी सभा, अजमेर। ९. उर्दू अनुवादक महता राधाकृष्ण। १०. मराठी अनुवाद (आर्यसमाज, धार) वैदिक यंत्रालय, अजमेर। ११. (ज्ञानचक्षु) गुजराती अनुवादक बैजनाथ अवधवासी, गुर्जर विजय प्रेस, अहमदाबाद १८९३ ई० १२. आर्यकुमार श्रुति अथवा आर्य मन्तव्य दर्पण मेधारथी स्वामी (विशद व्याख्या) १३. तृतीय हरयाणा आर्यमहासम्मेलन चरखी-दादरी-स्वागतमंत्री आचार्य श्री शिवकरण २५-१-५७

14. Aryoddeshya Ratnamala or the garland of the gems of the Aryan Mission by Maharshi Dayanand Saraswati. Translated into English by Bawa Arjan Singh, late lamented Editor, Arya Patrika, printed and published by the Vedic Yantralaya, Ajmer.

आर्य्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल[1] परमेश्वर है ॥

---

(१) संसार में दो प्रकार के जड़ पदार्थ हैं--एक नित्य और दूसरे अनित्य। नित्य पदार्थ कारण रूप हैं और अनित्य कार्य रूप हैं। नित्य पदार्थों को दार्शनिक परिभाषा में, सत्व, रजः और तमः इन तीन मूल नित्य तत्त्वों के समूह को सांख्य दर्शन में प्रकृति कहा गया है। न्याय दर्शन में इन्हीं मूलतत्त्वों को परमाणु नाम दिया है। केवल नाम में भिन्नता है, वस्तुसत्ता में नहीं। वेद में इनको 'स्वधा' और 'त्रिधातु' आदि नाम से कहा गया है। उपनिषदों में इन को सत्, असत्, अव्यक्त आदि अनेक नामों से वर्णित किया हुआ है। इन्हीं मूल तत्त्वों से चेतन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर कार्य रूप जगत् का निर्माण, चेतन अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य जीवों को उनके कर्मों के फल भोग और मोक्ष प्राप्ति के लिए करता है। प्रलयकाल में यह सृष्टि के कार्य पदार्थ अपने मूल कारणों से विलीन हो जाते हैं। जीवों को जगत् के पदार्थों से काम लेने नये-नये पदार्थों का निर्माण करने तथा मोक्ष प्राप्तिका साधन वेद ज्ञान ईश्वर देता है। इसी वेदज्ञान का नाम सत्य विद्याएं हैं। सत्यविद्या के आधार पर जीव अनेक विद्याओं को प्राप्त करते हैं। इसका भाव यह है कि संसार में जितने पदार्थ ईश्वर रचित और जीव निर्मित हैं और जितनी जीवों द्वारा प्रचारित विद्याएँ तथा सत्यवेदविद्याएं हैं, उन सबका आदि=प्रथम=मूल कारण ईश्वर है। यद्यपि जैवी विद्याओं और जीवों द्वारा निर्मित पदार्थों का कारण=निमित्त जीव हैं, परन्तु यदि परमेश्वर जीवों को सत्यविद्या न देवे और मूल तत्त्वों से सृष्टि की रचना न करे, तो जगत् का व्यवहार चल ही नहीं सकता। अतः जीव इन ईश्वर द्वारा ही सृष्टि रचित पदार्थों से नवीन पदार्थ रचना और वेदविद्या से ज्ञान प्राप्त करके ही नवीन विद्याओं का कारण (निमित्त) जीव हैं, परन्तु जीव इन विद्याओं और पदार्थों का मूलकारण नहीं है। वेद विद्या के प्रकाश और प्रकृति परमाणुओं

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त,[२] निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ॥

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना

से सृष्टि के रचने का मूल कारण=निमित्त ईश्वर है। इतना होते हुए भी अर्थात् ईश्वर मूल कारण होते हुए भी आदि मूल कारण है, क्योंकि मूल तत्त्वों के संयोग द्वारा सृष्टि रचना कार्य प्रथम ईश्वर ही करता है और ईश्वर ही प्रथम सृष्टि की रचना के आरम्भ में ही जीवों को अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा वेदविद्या का ज्ञान प्रथम देता है। उसके पश्चात् उस सत्य वेदविद्या से अनेक विद्याओं का प्रचार सृष्टि में होता है। अतः सिद्ध होता है कि सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब सत्य विद्याओं (वेद चतुष्टय) और जगत् के पदार्थों का प्रथम=आदि मूल कारण परमेश्वर है। यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवों तथा प्रकृति परमाणुओं की नित्य स्वतन्त्र सत्ता है, उनकी रचना ईश्वर नहीं करता, परन्तु जड़ तत्त्व नियमपूर्वक सृष्टि रचना में समर्थ नहीं होते और न ही अल्पज्ञ जीव पदार्थों के जानने में स्वयं समर्थ हैं। इसलिये प्रथम सृष्टि के आदि में ही इन सत्य विद्याओं और सृष्टि के तत्त्वों से प्रथम निमित्त कारण के रूप में सृष्टि रचना करने में ईश्वर ही आदिमूल कारण=निमित्त है। ओ३म् प्रतिष्ठ-यजुर्वेदे—'प्रतिष्ठा-मूलम्-त्रिकाण्डशेषे' (अर्थात् ओ३म् ही मूल है)। (२) अनन्त शब्द का भाव यह है कि ईश्वर के सब गुण, कर्म और स्वभाव सब प्रकार की सीमा से बाहर हैं, अर्थात् अन्त वाले नहीं हैं, इसीलिये ईश्वर का यह नाम भी "अनन्त" कहा जाता है। (३) प्रमाणों की व्याख्या आर्योद्देश्यरत्नमाला में की जा चुकी है, तथा सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में भी ऋषि दयानन्द ने की है, अतः वहीं से विस्तारपूर्वक देखनी चाहिये। (३) सुनने-सुनाने से भी वेद विद्या का बोध होता है, इसलिये वेद

और सुनना[3] सुनाना सब आर्य्यों का परम[4]धर्म है ।।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें ।।

६. संसार[5] का उपकार करना इस समाज[6] का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक[7] उन्नति करना ।।

७. सबसे प्रीति[8]पूर्वक धर्मानुसार[9] यथायोग्य[10]वर्त्तना चाहिये ।।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र[11]रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।।

के पढ़ने पढ़ाने के समान ही वेद का सुनना और सुनाना भी परम धर्म है। (४) परम धर्म का अर्थ यह है कि यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। (५) संसार के उपकार करने रूप नियम से यह सिद्ध होता है कि आर्यसमाज का संघटन किसी देश, सम्प्रदाय और समाजों तक सीमित नहीं है। (६) आर्यसमाज का संघटन कोई विशेष मत-सम्प्रदाय और दल नहीं है किन्तु समाज है। (७) सामाजिक शब्द से सब प्रकार की सामूहिक उन्नति की प्रणाली तथा आर्थिक और प्रशासनिक उन्नति ग्रहण की जाती है। (८-९-१०) 'प्रीतिपूर्वक' शब्द मनुष्य मात्र के प्रति सामान्य बर्त्ताव को बतलाता है। 'धर्मानुसार' से वर्णाश्रम मर्यादा का बोध होता है और 'यथायोग्य' पद से देश, काल, अवस्था, आर्य, दस्यु, मित्र तथा शत्रुओं के साथ जो व्यवहार करना चाहिये, उसका ज्ञापन होता है। (११) जीव अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु मनुष्य समाज में बन्धु बान्धवों आदि विभागों में मिल कर रहता है। अकेला सब कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। परस्पर मिलकर सब एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। इसलिये मनुष्यों को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके निजी कार्य से किसी दूसरे के निजी कार्य, सामाजिक कार्य और राष्ट्र के कार्य में बाधा न पड़े, अतः उसको सबके साथ मिल कर काम करने के सम्बन्ध में परतन्त्र रहना चाहिये। यह परतन्त्रता मनुष्य के कार्य की बाधक नहीं, किन्तु लाभदायक है। तन्त्र शब्द का अभिप्राय नियम से नियन्त्रित रहना है।

आर्यसमाज के साहित्य में क्रान्ती लाने के लिये

"मधुर-लोक;; मासिक पत्र का मई १९६९ का नया विशेषांक

"आर्यवीर"

इस अंक में आर्यवीरों की जीवनियां और उनके कर्त्तव्य पढ़ेंगे। यह विशेषांक सभी दृष्टियों से एक क्रांतिकारी विचारों से परिपूर्ण होगा। आर्य-साहित्य में नवीन एवं स्थायी वृद्धि में सहायक होगा। इस अंक की पृष्ठ सं० २०० होगी। टाईटिल पेज तिरंगा और विशेष आकर्षक होगा। एक प्रति का मूल्य २) रु० होगा। दस प्रति का मूल्य १५) रु०, पच्चीस प्रति का मूल्य ३२) रु० पचास प्रति का मूल्य ६०) रु० तथा सौ प्रतियों का मूल्य १००) रु० होगा। "मधुर-लोक" के स्थायी ग्राहकों को यह विशेषांक विना मूल्य भेंट किया जायेगा। अत: ५) रु० वार्षिक शुल्क भेज स्थायी ग्राहक बनें।

यह सुविधा केवल उन्हीं को मिलेगी जिनकी धन-राशि ३१ मार्च १९६९ तक मिल जायेगी।

"मधुर-लोक" कार्यालय आर्यसमाज बाजार सीताराम दिल्ली

प्रचारक की आवश्यकता है

उच्चकोटि के विद्वान्, वेदविद्या विषयज्ञाता, शास्त्रार्थ महारथी, मर्यादा-पुरुष, स्वस्थ, और प्रचारक उत्साही पंडित की।

दक्षिणा योग्यता अनुसार। प्रार्थनापत्र में आयु व कार्यों का विवरण लिखें। पत्र व्यवहार का पता—मन्त्री आर्यसमाज मन्दिर, महर्षिदयानन्द मार्ग [कांकरिया] अहमदाबाद—२२

जिन ग्राहक महानुभावों का शुल्क समाप्त हो चुका है वे अपना वार्षिक शुल्क १०) शीघ्र भेजने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक

शीत ऋतु का उपहार

च्यवनप्राश—शीत ऋतु में विशेष रूप से सेवन करें यह फेफड़ों को निर्बलता दूरकर शक्ति प्रदान करता है

नोट :—१. किसी भी रोगी के सम्बन्ध में पत्र द्वारा या मिल कर सम्मति प्राप्त करें।

२. गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की औषधियां बेचने के लिये नियम मुफ्त मंगावें।

आपका संतोष हमारा उद्देश्य है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के लिये जगदेवसिंह सिद्धान्ती शास्त्री द्वारा सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६ में मुद्रित और १५ हनुमान् रोड, नई दिल्ली-१ से प्रकाशित।